प्रमुख कहानियाँ

सम्पादक:
विनयमोहन शर्मा
एम० ए० एल० एल० बी

प्रकाशक:
अत्तरचन्द कपूर एण्ड सन्ज़
देहली-अम्बाला

Price Rs. 3/-

प्रकाशक:—
अत्तरचन्द कपूर एण्ड सन्ज़
दिल्ली : अम्बाला

प्रथम बार

मुद्रक:—
गोपीनाथ सेठ
नवीन प्रेस दिल्ली

प्रारम्भिका

कथा मानव जीवन का उत्स है और कुतूहल भी। बेकान ने कहा है—"वस्तु-सत्य और सत्य ज्ञान एक ही हैं। दोनों में अन्तर इतना ही है कि एक किरण है और दूसरा उसका प्रतिबिम्ब।" हम यही अन्तर जीवन और कथा में मानते हैं। जीवन स्वयं सत्य है और कथा उसका प्रतिबिम्बक। जिस प्रकार जीवन अनेक व्यापारों तथा अंगों का बना हुआ है उसी प्रकार कथा भी कुछ अथवा कई व्यापारों तथा अंगों का प्रतिबिम्ब हो सकती है। इस प्रकार कथा के दो रूप होते हैं। एक वह जिसमें जीवन के विशिष्ट अंग अथवा कतिपय व्यापारों की प्रतिछाया हो और दूसरा वह जिसमें समस्त जीवन—व्यापारों की परछाईं चित्रित हो। जिसमें जीवन का खंड गृहीत होता है वह कहानी और जिसमें अखंड जीवन अङ्कित होता है वह उपन्यास के नाम से अभिहित होता है।

कहानी के तत्व

उपन्यास के समान कहानी के भी निम्न तत्व होते हैं :—

(१) कथावस्तु (२) पात्र (३) कथोपकथन (४) शैली (५) उद्देश्य

कथावस्तु:—कहानी जीवन का खंड होने के कारण उसकी कथावस्तु छोटी होती है इसीलिये उसके गुंफन में अधिक सतर्कता की आवश्यकता है। कथा ऐसी हो जो नई तो जान पड़े पर अनहोनी न हो; रोचक तो हो पर मनोभावों को स्पष्ट करने वाली हो। वह इतनी संगठित हो कि उसमें एक भी शब्द भरती का प्रतीत न हो। उसका प्रत्येक शब्द, प्रत्येक वाक्य उद्देश्य की ओर ले जाने वाला हो। प्रसिद्ध आंग्ल समीक्षक रिचार्ड्स ने कहानी में वस्तु तत्व को बड़ा महत्व दिया है। उसने कहानी को सृजनात्मक साहित्य का (creative literature) बीज ही माना है। नाटक और महाकाव्य की सृष्टि कहानी के बिना असंभव है। गीतिकाव्य में भी कहानी का प्रवेश संभव है। यदि कहानीकार में कौशल है तो वस्तु को आकर्षक रूप दे वह पाठक में सौन्दर्य-सुख संचरित कर सकता है।

पात्र:—कहानी में पात्रों का चरित्र चित्रण बड़ी चतुराई से किया जाता है। उसमें विस्तार की गुञ्जाईश न होने

से यत्र-तत्र संवादों में ही पात्रों के चरित्रों का रहस्योद्घाटन हो जाता है। कहानी में जितने ही कम पात्र होते हैं, चरित्र-चित्रण उतना ही अधिक सफल होता है। पात्र ऐसे हों जो हमें अपरिचित न जान पड़ें—वे इसी धरती के प्राणी—हमारे चारों ओर चलने-फिरने वाले हों। दूसरे शब्दों में वे जीवन के बहुत सन्निकट हों। पात्रों के चित्रण के दो प्रकार प्रचलित हैं—एक में लेखक अपने को तटस्थ रखकर पात्र के व्यापारों तथा संभाषणों से उनके चरित्र का उद्घाटन करता है, दूसरे में वह स्वयं उसके मन का विश्लेषण करता है। प्रथम प्रणाली में कथाकार पात्र के सम्बन्ध में किसी प्रकार की विवेचना नहीं करता। इसे नाटकीय प्रणाली कहा जाता है और दूसरी प्रणाली को जहां कथाकार पात्र की भावनाओं—कार्य-कलाप आदि की समीक्षा करता है और अन्त में स्वयं उसके चरित्र का निर्णायक बन जाता है, 'विश्लेषणात्मक प्रणाली' से संबोधित किया जाता है। कहानी में एक या दोनों प्रणालियों का प्रयोग हो सकता है। पर उसमें विस्तार-विश्लेषण के लिए क्षेत्र नहीं है। क्योंकि वह पूर्ण जीवन का नहीं, जीवनाङ्ग का चित्र है।

कथोपकथन:—कथोपकथन कहानी को रोचक बनाते हैं। वास्तव में इस तत्व के द्वारा ही कहानी आगे बढ़ती और अपने उद्देश्य को छूती है। पात्रों के चरित्र भी इसी से प्रकाशित होते हैं। कहानी में लम्बे सम्वादों से औत्सुक्य नष्ट

हो जाता है। 'कथा घर नहीं कर पाती। अतएव सम्वाद छोटे-चुस्त हों; लक्ष्य की ओर ले जाने वाले हों।

शैली:—शैली कहानी कहने के ढंग का नाम है:—

(१) आत्मचरित के रूप में कही जा सकती है मानों स्वयं कहानीकार अपने जीवन की कथा 'विशेष' कह रहा हो; कहानी की यह शैली 'मैं' के साथ चलती है।

(२) इतिहास के रूप में कही जा सकती है जिसमें कहानीकार तटस्थ होकर घटनाओं का वर्णन करता जाता है। अधिकांश कहानियां इसी शैली में लिखी जाती हैं।

(३) डायरी और (४) पत्रों में भी कहानी कही जाती है।

शैली के अन्तर्गत कहानी कहने के ढंग के अतिरिक्त भाषा का भी विचार होता है। भाषा का रूप काव्यमय हो सकता है अथवा सरल—व्यावहारिक—भी। काव्यमय शैली में हिन्दी की प्रारम्भिक कहानियां पाई जाती हैं। कहानियों में जीवन की वास्तविकता का आभास लाने के लिए पात्रों की सामाजिक स्थिति के अनुरूप भाषा का प्रयोग होना चाहिए।

उद्देश्य:—उद्देश्य कहानी का स्पंदन है। वह केवल मनोरंजक हो सकता है, केवल शिक्षाप्रद अथवा दोनों भी। कहानी का लक्ष्य जीवन सम्बन्धी किसी रहस्य का उद्घाटन, समाज

की किसी स्थिति विशेष की आलोचना अथवा विशिष्ट मानव-प्रकृति पर प्रकाश डालना भी हो सकता है। मानव-जीवन बड़ा जटिल है। अतएव उसकी जटिलता के किसी भी भाग पर चोट की जा सकती है, उसकी किसी भी ग्रन्थि को खोला जा सकता है। उद्देश्य के अनुसार ही कहानी रोमांचकारी विनोदी या करुण हो सकती है। उपदेश या मनोरंजन-प्रधान हो सकती है। अच्छी कहानी में उपदेश उसकी मनोरंजकता को नष्ट नहीं करता—वह 'ओट' में रहकर धीमें स्वर में बोलता 'पो' कहता है—"पहले यह सोच लो कि तुम किस प्रभाव को उत्पन्न करना चाहते हो—बस उसी के आधार पर पात्र और घटनाओं को चुन लो—कहानी बन जायगी।"

कहानी भी अन्य कलाओं की भांति 'सौंदर्यानुभूति' की अभिव्यक्ति है। और कहानीकार की यह अनुभूति जितनी ही गहरी होती है वह जीवन के रहस्य को—सत्य को—उतने ही संयत रूप में व्यक्त करता है। सौन्दर्यानुभूति को ही बर्नार्डशा "सरस अनुभव" कहते हैं। 'वस्तु जगत्' जब कहानीकार के हृदय में "भाव जगत्" बन जाता है—जब वह अपने समाज के जीवन व्यापारों में तादात्म्य स्थापित कर लेता है तभी वह आनन्द से विभोर हो जाता है और इसी विभोरता को हम 'सरस अनुभव' कह सकते हैं। यही कहानी का 'सत्य' है और सत्य ही 'सुन्दरम्' है। कहानीकार जब अपने मन की बात कहता है तभी कहानी में प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता पैदा

होती है। अनुभूत सत्य को व्यक्त करने में संयम की आवश्य-
कता होती है। जो 'सत्य' जन-मन को उन्नत करता है, उसे
भुला नहीं—जगाता है वही अभिव्यक्ति का उद्देश्य होना चाहिये।
प्रेमचन्द ने उचित ही लिखा है—"संयम में शक्ति है और शक्ति
ही आनन्द की बुनियाद है।"

इस प्रकार कहानी का उद्देश्य केवल कहानी कहना ही नहीं
है, कहानी के द्वारा हमें भी कुछ कहना है। और यह 'कुछ' इस
ढंग से कहा जाय कि हमारा अन्तर्मन अनजाने उसे ग्रहण कर
मुग्ध हो उठे—आनन्द से भीग उठे।

उद्देश्य के अनुसार ही कहानी के दो रूप हमारे सामने
आ जाते हैं यथार्थवादी और आदर्शवादी। यदि कहानीकार
का लक्ष्य या उद्देश्य जीवन का प्रतिबिम्ब अंकित करना है तो
उसकी कहानी 'यथार्थवाद' का रूप धारण करेगी और यदि
कहानीकार 'जीवन क्या होना चाहिए?' की दृष्टि से कहानी
लिखेगा तो उसमें उसे ऐसे पात्रों की कथा अङ्कित करनी
पड़ेगी, जो इस लोक के होने पर भी अमर-लोक के जान
पड़ेंगे। ऐसी कहानी आदर्शवादी कहलाती है। वह कुतूहल
उत्पन्न कर सकती है, हमें आतङ्कित भी कर सकती है पर
उसमें अपना पन नहीं आ सकता है। हम पात्रों को अपने
निकट अनुभव नहीं कर सकते। अतएव प्रेमचन्द ने ऐसी
कहानी को उत्तम माना है जिसमें यथार्थ और आदर्श

दोनों का समन्वय हो और ऐसी रचना को 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद की कहानी' कहा है। ऐसी कहानी के पैर धरती पर रहते हैं पर आंखें आकाश की ओर उठी रहती हैं। आज का कहानीकार कल्पना के लोक में न विचरकर इसी लोक में राजमार्ग पर, चौराहे पर, गली-कूचे में, खेतों-खलिहानों में चक्कर लगाता है और वहाँ से अनुभव के सत्य को ग्रहण करता है।

यह सच है कि रूसी साहित्य के 'वादों' के अनुकरण पर कतिपय हिन्दी कथाकारों ने भारतीय समाज को रूसी चोला पहनाना प्रारम्भ कर दिया है। विवाहित जीवन की व्यर्थता और स्त्री-पुरुष के यौन सम्बन्ध की स्वच्छन्दता पर जोर दिया जाने लगा है। संभवतः यथार्थवाद की इसी बिडम्बना से खिन्न होकर "प्रगतिशील लेखक संघ" के मन्त्री श्री सज्जाद जहीर ने लिखा था—"हम प्रगतिशील लेखकों से यथार्थ चित्रण की मांग करते हैं लेकिन यथार्थ चित्रण का कदापि यह अर्थ नहीं कि प्रत्येक वास्तविकता को ज्यों-का-त्यों हूबहू चित्रित कर दिया जाय। प्रगतिशील यथार्थ चित्रण का अर्थ यह है कि अनेक और विभिन्न यथार्थताओं में से उन तत्वों का चयन किया जाय जो व्यक्ति और समाज के लिये अपेक्षित रूप से अधिक महत्त्व रखते हैं और फिर इनको इस प्रकार सम्मुख लाना चाहिए कि इनसे वास्ता पड़ने पर मनुष्य स्वाधीनता और नैतिक उत्थान के उस राजमार्ग पर

और बढ़ते रहने के लिये तैयार हो जाय जो कि वर्तमान युग में उन्हें आत्मोन्नति, बौद्धिक सजगता और शारीरिक स्वास्थ्य की मंजिल तक ले जा सकता है। स्वर्गीया सरोजिनी नायडू ने भी एक बार हैदराबाद 'प्रगतिशील लेखक संघ' में कहा था—"यथार्थवाद ही सब कुछ नहीं है। हमें उससे ऊपर उठना चाहिये।" संक्षेप में कहानी का उद्देश्य सात्विक आनंद प्रदान करना है। और यह आनन्द तभी प्राप्त किया जा सकता है जब हम जीवन के 'सत्य' के साथ 'शिव' तक भी पहुँच सकेंगे।

कहानी के विभिन्न भेद

कथावस्तु के स्रोत के अनुसार कहानी ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और जासूसी कहला सकती हैं और अन्त में जिस 'भाव' को वे उद्दीप्त करती हैं उसके अनुसार श्रृङ्गार, करुण, हास्य, भयानक आदि रस की कहानियां समझी जाती हैं। कहानी के तत्व विशेष की प्रधानता के अनुसार कहानी वस्तु या घटना प्रधान, पात्र या चरित्र प्रधान कहलाती है।

कहानी का विस्तार

कहानी का विस्तार दो पंक्ति से लेकर कई पृष्ठों का हो सकता है पर अब लम्बी कहानियों का युग भी बीत रहा है। संसार की सबसे छोटी कहानी यहां दी जाती है :—

"दो यात्री साथ-साथ रेल के डब्बे में बैठे यात्रा कर रहे थे। बातचीत के सिलसिले में एक ने कहा—'मुझे भूतों में विश्वास नहीं है।' दूसरा मुसकराकर बोल उठा—'सचमुच' और गायब हो गया।"

विशाल भारत में पं० श्रीराम शर्मा भी इसी प्रकार की लघु कथा आजकल लिख रहे हैं। 'कला' विस्तारपूर्वक वर्णन में नहीं, विस्तार के इंगित में है। पाठक की कल्पना को उत्तेजना देने में है।

कहानी का विकास

जब से मनुष्य ने अपने जीवन-व्यापारों के प्रति सजग अनुराग अनुभव किया और उसे व्यक्त करने की अदम्य वासना से अभिभूत हुआ तभी से कहानी का जन्म माना जा सकता है। मानव-जागरण के प्राचीनतम चिह्न वेद-उपनिषद् ग्रन्थों में 'कहानी' विद्यमान है, जो जीवन तत्वों की व्याख्या करती है। पर रस से सिक्त करनेवाली कहानी ऐहिक संस्कृत-साहित्य-युग की उपज है। संस्कृत-साहित्य शास्त्रों में 'कथा' और 'आख्यायिका' शब्दों की व्याख्या है। कथा म आधुनिक (Fiction) गल्प या गप्प का भाव है, जिसकी वस्तु सर्वथा कल्पित होती है और आख्यायिका में वस्तु इतिहास का सूत्र पकड़ कर चलती है। संस्कृत साहित्य में 'गुणाढय' की बृहत्कथा को, जो 'पैशाची' भाषा में लिखी गई थी, बड़ा मान है। उसकी प्रशंसा बाण आदि ने मुक्त कंठ से की है। मूल ग्रन्थ अप्राप्य है पर उसका कुछ अंश संस्कृत में उलथा होकर

'बृहत्कथा श्लोक संग्रह' 'बृहत्कथामंजरी' और 'कथा सरित्-सागर' के रूप में रक्षित है। 'गुणाढय' की कथा में आलंकारिता कम है, 'कथात्व' अधिक है। उनके पश्चात् सुबन्धु की वासवदत्ता और बाण की कादंबरी ने संस्कृत कथा-साहित्य को सरसता से अनुप्राणित किया। उनमें भाषा की आलंकारिकता, कथा सूत्र की अविच्छिन्नता और रस की परिपक्वता तीनों की मधुर तिरवेनी बहती है। काव्य की भाँति संस्कृत युग की कथा का लक्ष्य भी रस-संचार रहा है। आज का आंग्ल साहित्य शास्त्री रिचार्ड्स भी सभी सृजनात्मक साहित्य का उद्देश्य रस-संचार मानता है।

यद्यपि हमारे प्राचीन साहित्य में कहानी की सुन्दर परम्परा विद्यमान है, तो भी हिन्दी-कहानी का विकास उस परम्परा की कड़ी नहीं है। वह पाश्चात्य कहानी कला से प्रेरित—पोषित है।

पश्चिम में आधुनिक कहानी १६ वीं शताब्दी की देन है। वहाँ की औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) ने जनता के जीवन और परिणामतः साहित्य को प्रभावित कर कहानी को नई गति, नई टेकनीक और नई विचार-धारा प्रदान की है। जीवन संघर्ष की तीव्रता के कारण जनता के पास साहित्य विलास के लिए समय का अभाव रहने से छोटी कहानी का जन्म हुआ। अमेरिका, फ्रान्स और रूस में उसका प्रारम्भ हुआ। अमेरिका के कथाकार 'पो' ने

सर्वप्रथम प्रभाव और लक्ष्य की एकता पर ज़ोर दिया। रूसी कथाकार तुर्गनेव, गोर्की और टाल्स्टाय ने उत्पीड़ित के प्रति सहानुभूति प्रकट कर कहानी को जनता के अधिक सन्निकट लाने का यत्न किया। फ्रान्सीसी लेखकों, विशेषकर जोला और मोपांसा ने उद्देश्य, प्रभाव और नाटकीय-पन के समन्वय के साथ एक घटना, एक पात्र और एक दृश्य से प्रभावित कहानियां लिखीं। उनका जीवन के एक पहलू (phase) का चित्रण बड़ा सुन्दर बन पड़ा है। पाश्चात्त्य कहानी-साहित्य का प्रभाव भारतीय साहित्य पर सीधा पड़ा है। बँगला में उसकी छाया से बंगाली कहानी का रचनातंत्र अधिक आकर्षक हो गया था। अतः हिन्दी कथा-साहित्य सब से पहले उसी से उच्छ्वसित होने लगा। यों ऐतिहासिक दृष्टि से इंशाअल्ला की 'रानी केतकी की कहानी' हिन्दी की प्रथम कहानी मानी जाती है परन्तु उसमें आधुनिक कहानी के तत्वों का समावेश नहीं है। गहमरी की बंगला से अनूदित जासूसी कहानियों के बाद पं० किशोरीलाल गोस्वामी की 'सरस्वती' में लगभग सन् १६०० में प्रकाशित 'इंदुमती' हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी मानी जाती है। उसके बाद पं० रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' प्रकाशित हुई। वंग महिला की 'दुलाई वाली' कहानी अधिक मार्मिक और भाव-प्रधान है। श्री जयशंकर प्रसाद ने कल्पना और भावुकता को लेकर 'इंदु' में जो कहानियां प्रकाशित कीं वे अपना अलग ही मार्ग इंगित

करती हैं। हास्य रस की कहानी का प्रारम्भ 'इंदु' में श्री जी० पी० श्रीवास्तव द्वारा हुआ। सन् १६१३ में पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' की रत्नावंधन कहानी की ओर हिन्दी जनता का ध्यान आकर्षित हुआ। उनके गृहस्थ-जीवन के चित्र यथार्थता के अधिक सन्निकट हैं। इसी काल में राजा राधिकारमणसिंह, पं० ज्वालादत्त शर्मा, श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी आदि का कहानी क्षेत्र में प्रवेश होता है। श्री प्रेमचन्द की कहानियां सं० १६७२ से प्रकाशित होने लगीं। प्रेमचन्द ने गांधी युग से प्रभावित हो अपनी कहानियों में ग्रामीण उत्पीड़ित जनता के जीवन का मर्म-स्पर्शी चित्रण किया। काव्यात्मक कहानी लिखने की ओर चंडी-प्रसाद 'हृदयेश' अधिक उन्मुख हुए। संभवतः वे संस्कृत की आख्यायिकाओं की शैली हिन्दी में प्रचलित करना चाहते थे। इसी युग में सर्वश्रीसुदर्शन, उग्र, जैनेन्द्र कुमार, भगवती प्रसाद वाजपेयी, भगवती चरण वर्मा, बख्शी, अज्ञेय, अन्नपूर्णानन्द वर्मा, वृंदावनलाल वर्मा आदि सामाजिक, राजनीतिक ऐति-हासिक आदि विभिन्न विषयों को लेकर अवतीर्ण हुए। आज के प्रगतिवादी लेखकों में यशपाल, पहाड़ी, रांगेय राघव आदि जीवन की यथार्थता को उसके नग्न रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं। आज की कहानी एक ओर 'फ्रायड' के यौनवाद से और दूसरी ओर महर्षि कार्लमार्क्स के साम्यवाद से अनुप्राणित हो रही हैं। फिर भी, इसमें सन्देह नहीं, रचना तन्त्र की दृष्टि से वह उत्तरोत्तर जीवन

के सन्निकट होती जा रही है। बहुत सम्भव है कि भविष्य में कहानी जीवन के इतने नज़दीक पहुँच जाय कि जीवन चरित्र और कहानी में कोई भेद ही न रह सके। इसी से कहानी के एक अंग रेखा-चरित्र के पल्लवित होने की बड़ी सम्भावना है। क्योंकि रेखा-चरित्र कल्पना नहीं; प्रत्यक्ष जीवन का चित्र होता है।

हिन्दी-विभाग, विनयमोहन शर्मा

नागपुर-विश्वविद्यालय,

तिलक जयन्ती १९४९

विषय सूची

: एक :

'उसने कहा था।'

(श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी)

बड़े-बड़े शहरों के इक्के-गाड़ीवालों की जबान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है और कान पक गए हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है कि अमृतसर के बम्बूकार्ट वालों की बोली का मरहम लगावें। जब बड़े-बड़े शहरों की चौड़ी सड़कों पर घोड़े की पीठ को चाबुक से धुनते हुए इक्केवाले कभी घोड़े की नानी से अपना निकट सम्बन्ध स्थिर करते हैं, कभी राह चलते पैदलों की आँखें न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की अंगुलियों के पोरों को चीथकर अपने ही को सताया हुआ बताते हैं और संसार-भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में उनकी बिरादरी वाले तंग, चक्करदार गलियों में, हरएक लड्ढीवाले के लिए ठहरकर सब्र का समुद्र उमड़ाकर 'बचो खालसा जी', 'हटो भाई जी', 'ठहरना भाई', 'आने दो लाला जी', 'हटो बाछा', कहते हुए सफेद फेटों, खच्चरों और बत्तकों, गन्ने खोमचे और भारेवालों के जंगल में से राह खेते हैं। क्या मजाल है कि 'जी' और 'साहब' बिना सुने किसी को हटना पड़े। बात यह नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं; चलती है, पर मीठी छुरी की तरह

महीन मार करती हुई। यदि कोई बुढ़िया बार-बार चितौनी देने पर भी लीक से नहीं हटती तो उनकी वचनावली के ये नमूने हैं—हट जा, जीणे जोगिए; हट जा, करमां वालिए; हट जा, पुत्तां प्यारिए; बच जा, लम्मी वालिए। समष्टि में इसका अर्थ है कि तू जीने योग्य है, तू भाग्यों वाली है, तू पुत्र को प्यारी है, लम्बी उमर तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहियों के नीचे आना चाहती है? बच जा।

ऐसे बम्बूकार्टवालों के बीच में होकर एक लड़का और एक लड़की चौक की एक दुकान पर आ मिले। उसके बालों और इसके ढीले सुथने से जान पड़ता था कि दोनों सिख हैं। वह अपने मामा के केश धोने के लिए दही लेने आया था और यह रसोई के लिए बड़ियाँ। दुकानदार एक परदेशी से गुथ रहा था, जो सेर भर गीले पापड़ों की गड्डी को गिने बिना न हटता था।

'तेरे घर कहाँ है?'

'मगरे में,—और तेरे?'

'माझे में,—यहाँ कहाँ रहती है?'

अतरसिंह की बैठक में, वे मेरे मामा होते हैं।'

'मैं भी मामा के यहाँ आया हूँ, उनका घर गुरु बाजार में है।'

इतने में दुकानदार निबटा और इनका सौदा देने लगा। सौदा लेकर दोनों साथ-साथ चले। कुछ दूर जाकर लड़के ने मुस्कराकर पूछा—'तेरी कुड़माई हो गई?' इस पर लड़की

कुछ आँखें चढ़ाकर 'धत्' कहकर दौड़ गई और लड़का मुँह देखता रह गया।

दूसरे-तीसरे दिन सब्जीवाले के यहाँ या दूध वाले के यहाँ अकस्मात् दोनों मिल जाते। महीना भर यही हाल रहा। दो-तीन बार लड़के ने फिर पूछा, 'तेरी कुड़माई हो गई?' और उत्तर में वही 'धत्' मिला। एक दिन जब फिर लड़के ने वैसे ही हँसी में चिढ़ाने के लिए पूछा तो लड़की, लड़के की सम्भावना के विरुद्ध बोली—'हाँ हो गई।'

'कब?'

'कल,—देखते नहीं यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू।' लड़की भाग गई। लड़के ने घर की राह ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया, एक छावड़ी वाले की दिन भर की कमाई खोई, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और एक गोभी वाले के ठेले में दूध उँडेल दिया। सामने नहाकर आती हुई किसी वैष्णवी से टकराकर अन्धे की उपाधि पाई। तब कहीं घर पहुँचा।

[२]

'राम राम, यह भी कोई लड़ाई है! दिन-रात खंदकों में बैठे-बैठे हड्डियाँ अकड़ गईं। लुधियाने से दस गुना जाड़ा और मेह और बरफ ऊपर से। पिंडलियों तक कीचड़ में धँसे हुए हैं। ग़नीम कहीं दीखता नहीं—घंटे दो घंटे में कान के परदे फाड़ने वाले धमाके के साथ सारी खंदक हिल जाती है और सौ-सौ गज धरती उछल पड़ती है। इस ग़ैबी गोले से बचे तो कोई लड़े।

नगरकोट का जलजला सुना था। यहाँ दिन में पचीस जलजले होते हैं। जो कहीं खंदक से वाहर साफा या कुहनी निकल गई, तो चटाख से गोली लगती है। न मालूम वेईमान मिट्टी में लेटे हुए या घास की पत्तियों में छिपे रहते हैं।

'लहनासिंह, और तीन दिन हैं। चार तो खंदक में विता ही दिए। परसों 'रिलीफ' आ जायगी और फिर सात दिन की छुट्टी। अपने हाथों झटका करेंगे और पेट भर खाकर सो रहेंगे। उसी फिरंगी मेम के बाग में, मखमल की सी हरी घास है। फल और दूध की वर्षा कर देती है। लाख कहते हैं, दाम नहीं लेती, कहती है तुम राजा हो, मेरे मुल्क को बचाने आए हो।'

चार दिन तक पलक नहीं झँपी, विना फेरे घोड़ा विगड़ता है और विना लड़े सिपाही। मुझे तो संगीन चढ़ाकर मार्च का हुक्म मिल जाय। फिर सात जर्मनों को अकेला मारकर न लौटूँ तो मुझे दरवार साहव की देहली पर मत्था टेकना नसीव न हो। पाजी कहीं के, कलों के घोड़े—संगीन देखते ही मुँह फाड़ देते हैं और पैर पकड़ने लगते हैं! यों अँधेरे में तीस-तीस मन का गोला फेंकते हैं। उस दिन धावा किया था—चार मील तक एक जर्मन भी नहीं छोड़ा था। पीछे जनरल साहव ने हट आने का कमान दिया, नहीं तो—'

'नहीं तो सीधे वर्लिन पहुँच जाते, क्यों?' सूवेदार हजारासिंह ने मुस्कराकर कहा—'लड़ाई के मामले जमादार या नायक

के चलाये नहीं चलते। बड़े अफसर दूर की सोचते हैं। तीन सौ मील का सामना है। एक तरफ बढ़ गये तो क्या होगा?

सूबेदार जी, सच है'—लहनासिंह बोला—पर करें क्या? हड्डियों-हड्डियों में तो जाड़ा धँस गया है। सूर्य निकलता नहीं और खाई में दोनों तरफ से चंबे की बावलियों के से सोते झर रहे हैं। एक धावा हो जाय तो गरमी आ जाय। 'उदमी उठ, सिगड़ी में कोले डाल। वजीरा तुम चार जने बाल्टियाँ लेकर खाई का पानी बाहर फेंको। महासिंह शाम हो गई है, खाई के दरवाजे का पहरा बदल दे।' यह कहते हुए सूबेदार सारी खंदक में चक्कर लगाने लगे।

वजीरासिंह पलटन का विदूषक था। बाल्टी में गँदला पानी भरकर खाई के बाहर फेंकता हुआ बोला—'मैं पाधा बन गया हूँ। करो जर्मनी के बादशाह का तर्पण!' इस पर सब खिल-खिला पड़े और उदासी के बादल फट गये।

लहनासिंह ने दूसरी बाल्टी भर कर उसके हाथ में देकर कहा—'अपनी बाड़ी के खरबूजों में पानी दो। ऐसा खाद का पानी पंजाब भर में नहीं मिलेगा।'

'हाँ, देश क्या है, स्वर्ग है। मैं तो लड़ाई के बाद सरकार से दस घुमा जमीन यहाँ माँग लूँगा और फलों के बूटे लगाऊँगा।'

'लाड़ी होरां को भी यहाँ बुला लोगे? या वही दूध पिलाने वाली फिरंगी मेम—'

'चुपकर। यहाँ वालों को शरम नहीं।'

'देश-देश की चाल है। आज तक मैं उसे समझा न सका कि सिख तम्बाकू नहीं पीते। वह सिगरेट देने में हठ करती है, ओठों में लगाना चाहती है, और मैं पीछे हटता हूँ तो समझती है कि राजा बुरा मान गया, अब मेरे मुलक के लिए लड़ेगा नहीं ?'

'अच्छा अब बोधासिंह कैसा है ?'

'अच्छा है।'

जैसे मैं जानता ही न होऊँ। 'रात भर तुम अपने दोनों कम्बल उसे ओढ़ाते हो और आप सिगड़ी के सहारे गुज़र करते हो। उसके पहरे पर आप पहरा दे आते हो। अपने सूखे लकड़ी के तख्तों पर उसे सुलाते हो, आप कीचड़ में पड़े रहते हो। कहीं तुम माँदे न पड़ जाना। जाड़ा क्या है मौत है और 'निमोनिया' से मरने वालों को मुरब्बे नहीं मिला करते।'

'मेरा डर मत करो। मैं तो बुलेल की खड्ड के किनारे मरूँगा। भाई कीरतसिंह की गोदी पर मेरा सिर होगा और मेरे हाथ के लगाये हुए आँगन के आम के पेड़ की छाया होगी।'

वजीरासिंह ने त्योरी चढ़ाकर कहा—क्या मरने मारने की बात लगाई है ?

इतने में एक कोने से पंजाबी गीत की आवाज़ सुनाई दी। सारी खंदक गीत से गूँज उठी और सिपाही फिर ताजे हो गये मानो चार दिन से सोते और मौज ही करते रहे हों।

[३]

दो पहर रात गई है। अँधेरा है। सन्नाटा छाया हुआ है।

बोधासिंह खाली बिसकुटों के तीन टिनों पर अपने दोनों कम्बल बिछाकर और लहनासिंह के दो कम्बल और एक बानकोट ओढ़ कर सो रहा है। लहनासिंह पहरे पर खड़ा हुआ है। एक आँख खाई के मुख पर है और एक बोधासिंह के दुबले शरीर पर। बोधासिंह कराहा।

'क्यों बोधासिंह भाई! क्या है?'

'पानी पिला दो।'

लहनासिंह ने कटोरा उसके मुँह से लगाकर पूछा—'कहो कैसे हो?' पानी पीकर बोधा बोला—'कँपनी छूट रही है। रोम-रोम के तार दौड़ रहे हैं।' दांत बज रहे हैं।

'अच्छा, मेरी जरसी पहन लो।'

'और तुम?'

'मेरे पास सिगड़ी है और मुझे गरमी लगती है। पसीना आ रहा है।'

'ना, मैं नहीं पहनता, चार दिन से तुम मेरे लिए—'

'हाँ, याद आई। मेरे पास दूसरी गरम जरसी है। आज सवेरे की आई है। विलायत से मेमें बुन-बुनकर भेज रही हैं। गुरु उनका भला करें। यों कहकर लहना अपना कोट उतार कर जरसी उतारने लगा।

'सच कहते हो?'

'और नहीं झूठ?' यों कहकर नाहीं करते बोधा को उसने जबरदस्ती जरसी पहना दी और आप खाकी कोट ज़ीन का

कुरता पहनकर पहरे पर आ खड़ा हुआ। मेम की जरसी की कथा केवल कथा थी।

आधा घंटा बीता। इतने में खाई के मुँह से आवाज़ आई—'सूबेदार हजारासिंह।'

कौन? लपटन साहब? हुक्म हुजूर! कहकर सूबेदार तन कर फौजी सलाम करके सामने हुआ।

'देखो, इसी दम धावा करना होगा। मील भर की दूरी पर पूरब के कोने में एक जर्मन खाई है। उसमें पचास से ज्यादा जर्मन नहीं हैं। इन पेड़ों के नीचे-नीचे दो खेत काटकर रास्ता है। तीन-चार घुमाव हैं। जहाँ मोड़ है, वहाँ पन्द्रह जवान खड़े कर आया हूँ। तुम यहाँ दस आदमी छोड़कर सबको साथ ले उनसे जा मिलो। खंदक छीनकर वहीं जब तक दूसरा हुक्म न मिले डटे रहो। हम यहाँ रहेगा।'

'जो हुक्म।'

चुपचाप सब तैयार हो गये। बोधा भी कम्बल उतारकर चलने लगा। तब लहनासिंह ने उसे रोका। लहनासिंह आगे हुआ, तो बोधा के बाप सूबेदार ने उँगली से बोधा की ओर इशारा किया। लहनासिंह समझकर चुप हो गया। पीछे दस आदमी कौन रहें, इस पर बड़ी हुज्जत हुई। कोई रहना न चाहता था समझा-बुझाकर सूबेदार ने मार्च किया। लपटन साहब लहना की सिगड़ी के पास मुँह फेर कर खड़े हो गये और जेब से सिगरेट निकालकर सुलगाने लगे। दस मिनट के बाद उन्होंने लहना की ओर हाथ बढ़ाकर कहा—'लो तुम भी पियो।'

आँख मारते-मारते लहनासिंह सब समझ गया। मुँह का भाव छिपाकर बोला—'लाओ, साहब।' हाथ आगे करते ही उसने सिगड़ी के उजाले में साहब का मुँह देखा, बाल देखे, तब उसका माथा ठनका। लपटन साहब के पट्टियों वाले बाल एक दिन में कहाँ उड़ गये और उनकी जगह कैदियों के-से कटे हुए बाल कहाँ से आ गये ?

शायद साहब शराब पिये हुए हैं और उन्हें बाल कटवाने का मौका मिल गया है ? लहनासिंह ने जाँचना चाहा। लपटन साहब पाँच वर्ष से उनकी रेजमेंट में थे।

'क्यों साहब, हम लोग हिन्दुस्तान कब जायँगे ?'

'लड़ाई खत्म होने पर। क्यों क्या यह देश पसन्द नहीं ?'

'नहीं साहब, शिकार के वे मजे यहाँ कहाँ ? याद है, पारसाल नकली लड़ाई के पीछे हम आप जगाधरी के जिले में शिकार करने गये थे—'हाँ, हाँ'—वही, जब आप खोते* पर सवार थे और आपका खानसामा अब्दुल्ला रास्ते के एक मन्दिर में जल चढ़ाने को रह गया था ? 'बेशक, पाजी कहीं का। सामने से वह नीलगाय निकली कि ऐसी बड़ी मैंने कभी न देखी थी। और आपकी एक गोली कंधे में लगी और पुट्ठे में निकली। ऐसे अफ-सर के साथ शिकार खेलने में मजा है। क्यों साहब, शिमले से तैयार होकर उस नीलगाय का सिर आ गया था न ? आपने कहा था कि रजिमेंट की मैस में लगायेंगे ! 'हो, पर मैंने वह

---

*गधे।

वलायत भेज दिया' ऐसे वड़े-वड़े सींग। दो-दो फुट के तो होंगे?'

'हाँ, लहनासिंह, दो फुट चार इंच के थे, तुमने सिगरेट नहीं पिया?'

'पीता हूँ साहब, दियासिलाई ले आता हूँ' कहकर लहनासिंह खन्दक में घुसा। अब उसे सन्देह नहीं रहा था। उसने झटपट निश्चय कर लिया कि क्या करना चाहिये।

अंधेरे में किसी सोने वाले से वह टकराया।

'कौन? वजीरासिंह?'

'हाँ, क्यों लहना? क्या कयामत आ गई? जरा तो आँख लगने दी होती?

[४]

'होश में आओ। कयामत आई है और लपटन साहब की वर्दी पहनकर आई है।'

'क्या?'

'लपटन साहब या तो मारे गये हैं या क़ैद हो गये हैं। उनकी वर्दी पहनकर यह कोई ज़र्मन आया है। सूबेदार ने इसका मुंह नहीं देखा मैंने देखा है' और बातें की हैं। सौहरा+ साफ उर्दू बोलता है, पर किताबी उर्दू। और मुझे पीने को सिगरेट दिया है?'

'तो अब?'

+सुसरा (गाली)

'अब मारे गये। धोखा है। सूबेदार होराँ कीचड़ में चक्कर काटते फिरेंगे और यहां खाई पर धावा होगा। उधर उन पर खुले में धावा होगा। उठो, एक काम करो। पल्टन के पैरों के निशान देखते-देखते दौड़ जाओ। अभी बहुत दूर न गये होंगे। सूबेदार से कहो कि एकदम लौट आवें। खंदक की बात झूठ है चले जाओ, खंदक के पीछे से निकल जाओ पत्ता तक न खुड़के। देर मत करो।'

'हुकुम तो यह है कि यहीं—

'ऐसी तैसी हुकुम की। मेरा हुकुम—जमादार लहनासिंह जो इस वक्त यहां सबसे बड़ा अफसर है उसका हुकुम है। मैं लपटन साहब की खबर लेता हूँ।'

'पर यहाँ तो तुम आठ ही हो।'

'आठ नहीं दस लाख। एक-एक अकाली सिख सवा लाख के बराबर होता है। चले जाओ।'

लौट कर खाई के मुहाने पर लहनासिंह दीवार से चिपक गया। उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से बेल के बराबर तीन गोले निकाले। तीनों को तीन जगह खंदक की दीवारों में घुसेड़ दिया और तीनों में एक तार-सा बाँध दिया। तार के आगे सूत की एक गुत्थी थी, जिसे सिगड़ी के पास रखा। बाहर की तरफ जाकर एक दियासलाई जलाकर गुत्थी पर रखने—

बिजली की तरह दोनों हाथों से उल्टी बन्दूक को उठाकर लहनासिंह ने साहब की कुहनी पर तान कर दे मारा। धमाके

के साथ साहब के हाथ से दियासलाई गिर पड़ी लहनासिंह ने एक कुंदा साहब की गर्दन पर मारा और साहब 'आँख! मीन गोट्ट'* कहते हुए चित्त हो गये। लहनासिंह ने तीन गोले बीन-कर खंदक के बाहर फेंके और साहब को घसीटकर सिगड़ी के पास से हटाया। जेबों की तलासी ली। तीन चार लिफाफे और एक डायरी निकाल कर उन्हें अपनी जेब के हवाले किया।

साहब की मूर्छा हटी। लहनासिंह हँसकर बोला—'क्यों लपटन साहब? मिजाज कैसा है? आज मैंने बहुत बातें सीखीं। यह सीखा कि सिख सिगरेट पीते हैं। यह सीखा कि जगाधरी के जिले में नीलगायें होती हैं और उनके दो फुट चार इञ्च के सींग होते हैं। यह सीखा कि मुसलमान खानसामा मूर्तियों पर जल चढ़ाते हैं और लपटन साहब खोते पर चढ़ते हैं, पर यह तो कहो, ऐसा साफ उर्दू कहाँ से सीख आये? हमारे लपटन साहब तो बिना 'डैम' के पाँच लफ्ज भी नहीं बोला करते थे।'

लहना ने पतलून की जेबों की तलाशी नहीं ली थी। साहब ने, मानो जाड़े से बचने के लिए, दोनों हाथ जेबों में डाले।

लहनासिंह कहता गया—'चालाक तो बड़े हो; पर माझे का लहना इतने बरस लपटन साहब के साथ रहा है। उसे चकमा देने के लिए चार आँखें चाहिए। तीन महीने हुए, एक तुरकी मौलवी मेरे गाँव में आया था। औरतों को बच्चे होने का तावीज बाँटता था और बच्चों को दवाई देता था। चौधरी के बड़ के

---

* हाय! मेरे राम! (जर्मन)

नीचे मंजा[1] बिछाकर हुक्का पीता रहता था और कहता था कि जर्मनी वाले बड़े पण्डित हैं। वेद पढ़ पढ़कर उसमें से विमान चलाने की विद्या जान गये हैं। गौ को नहीं मारते। हिन्दुस्तान में आ जायेंगे तो गोहत्या बन्द कर देंगे। मंडी में बनियों को बहकाता था कि डाकखाने से रुपये निकाल लो, सरकार का राज्य जाने वाला है। डाक-बाबू पोल्हूराम भी डर गया था। मैंने मुल्ला जी की दाढ़ी मूँड़ दी थी और गाँव से बाहर निकाल कर कहा था कि जो मेरे गाँव में अब पैर रक्खा तो—

साहब की जेब में से पिस्तौल चला और लहना की जाँघ में गोली लगी। इधर लहना की हैनरी मार्टिनी के दो फायरों ने साहब की कपाल-क्रिया कर दी। धड़ाका सुनकर सब दौड़ आये।

बोधा चिल्लाया—'क्या है?'

लहनासिंह ने तो उसे यह कह कर सुला दिया कि 'एक हड़का हुआ कुत्ता आया था, मार दिया, और औरों से सब हाल कह दिया। सब बन्दूकें लेकर तैयार हो गये। लहना ने साफा फाड़ कर घाव के दोनों तरफ पट्टियाँ कस कर बाँधी। घाव मांस में ही था। पट्टियों के कसने से लहू निकलना बन्द हो गया।

इतने में सत्तर जर्मन चिल्ला कर खाई में घुस पड़े। सिक्खों की बन्दूकों की बाढ़ ने पहले धावे को रोका। पर यहाँ थे आठ (लहनासिंह तक-तक कर मार रहा था, वह खड़ा था, और, और

---

[1] खटिया

लेटे हुए थे) और वे सत्तर। अपने मुर्दा भाइयों के शरीर पर चढ़कर जर्मन आगे घुसे आते थे। थोड़े से मिनटों में वे—

अचानक आवाज आई 'वाह गुरुजी की फतह! वाह गुरुजी का खालसा!' और धड़ाधड़ बन्दूकों के फायर जर्मनों की पीठ पर पड़ने लगे। ऐन मौके पर जर्मन दो चक्की के पाटों के बीच में आ गये। पीछे से सूबेदार हजारासिंह के जवान आग बरसाते थे और सामने लहनासिंह के साथियों के संगीन चल रहे थे। पास आने पर पीछे वालों ने भी संगीन पिरोना शुरू कर दिया। एक किलकारी और—'अकाल सिक्खों की फौज आई। वाह गुरुजी की फतह! वाह गुरुजी दा खालसा!! सत श्री अकाल पुरुष!!!' और लड़ाई खतम हो गई। तिरसठ जर्मन या तो खेत रहे थे या कराह रहे थे। सिक्खों में पन्द्रह के प्राण गये। सूबेदार के दाहने कंधे में से गोली आर-पार निकल गई। लहनासिंह की पसली में एक गोली लगी। उसने घाव को खंदक की गीली मिट्टी से पूर लिया और बाकी को साफा कसकर कमरबंद की तरह लपेट लिया। किसी को खबर न हुई कि लहना के दूसरा घाव—भारी घाव लगा है।

लड़ाई के समय चाँद निकल आया था, ऐसा चाँद जिसके प्रकाश से संस्कृत-कवियों का दिया हुआ 'क्षयी' नाम सार्थक होता है और हवा ऐसी चल रही थी जैसी कि बाणभट्ट की भाषा में 'दन्तवीणोपदेशाचार्य्य' कहलाती। वजीरासिंह कह रहा था कि कैसे मन-मन-भर फ्रांस की भूमि मेरे बूटों से चिपक

रही थी जब मैं दौड़ा-दौड़ा सूबेदार के पीछे गया था। सूबेदार ने लहनासिंह से सारा हाल सुना और कागज़ात पाकर वे उसकी तुरत-बुद्धि को सराह रहे थे और कह रहे थे कि तू न होता तो आज सब मारे जाते।

इस लड़ाई की आवाज तीन मील दाहिनी ओर की खाई वालों ने सुन ली थी। उन्होंने पीछे टेलीफोन कर दिया था। वहाँ से झटपट दो डाक्टर और दो बीमार ढोने की गाड़ियां चलीं, जो कोई डेढ़ घंटे के अन्दर-अन्दर आ पहुँची। फील्ड अस्पताल नजदीक था। सुबह-होते वहां पहुँच जायँगे, इसलिए मामूली पट्टी बांध कर एक गाड़ी में घायल लिटाये गये और दूसरी में लाशें रक्खी गईं। सूबेदार ने लहनासिंह की जांघ में पट्टी बँधवानी चाही, पर उसने यह कहकर टाल दिया कि थोड़ा घाव है, सवेरे देखा जायगा। बोधासिंह ज्वर में बर्रा रहा था। वह गाड़ी में लिटाया गया। लहना को छोड़कर सूबेदार जाते नहीं थे। यह देख लहना ने कहा—तुम्हें बोधा की कसम है और सूबेदारनी जी की सौगंध है, जो इस गाड़ी में न चले जाओ।'

'और तुम ?'

'मेरे लिए वहां पहुँच कर गाड़ी भेज देना। और जर्मन मुर्दों के लिए भी तो गाड़ियां आती होंगी। मेरा हाल बुरा नहीं है। देखते नहीं, मैं खड़ा हूँ ? वजीरासिंह मेरे पास ही है।'

'अच्छा, पर—'

'बोधा गाड़ी पर लेट गया ? भला। आप भी चढ़ जाओ। सुनिए तो, सूबेदारनी होराँ को चिट्ठी लिखो तो मेरा मत्था टेकना

लिख देना और जब घर जाओ तो कह देना कि मुझसे जो उसने कहा था, वह मैंने कर दिया।'

गाड़ियाँ चल पड़ी थीं। सूबेदार ने चढ़ते-चढ़ते लहना का हाथ पकड़ कर कहा—'तूने मेरे और बोधा के प्राण बचाये हैं। लिखना कैसा? साथ ही घर चलेंगे! अपनी सूबेदारनी को तू ही कह देना। उसने क्या कहा था?'

'अब आप गाड़ी पर चढ़ जाओ। मैंने जो कहा, वह लिख देना।'

'गाड़ी के जाते ही लहना लेट गया—'वजीरा पानी पिला दे और मेरा कमरबंद खोल दे। तर हो रहा है।'

[५]

मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ हो जाती है। जन्म भर की घटनाएँ एक-एक करके सामने आती हैं। सारे दृश्यों के रंग साफ होते हैं, समय की धुंध बिलकुल उन पर से हट जाती है।

× × ×

लहनासिंह बारह वर्ष का है। अमृतसर में मामा के यहाँ आया हुआ है। दही वाले के यहाँ, सब्जी वाले के यहाँ, कहीं उसे एक आठ वर्ष की लड़की मिल जाती है। जब वह पूछता है तेरी कुड़माई हो गई? तब 'धत्' कह कर वह भाग जाती है। एक दिन उसने वैसे ही पूछा तो उसने कहा—हां,

कल हो गई, देखते नहीं यह रेशम के फूलोंवाला सालू?' सुनते ही लहना सिंह को दुःख हुआ। क्रोध हुआ। क्यों हुआ?

'वजीरासिंह पानी पिला दे।'

× × ×

पच्चीस वर्ष बीत गये। अब लहनासिंह नं० ७७ रैफल्स में जमादार हो गया है। उस आठ वर्ष की कन्या का ध्यान ही न रहा। न मालूम वह कभी मिली थी, या नहीं। सात दिन की छुट्टी लेकर जमीन के मुकद्दमे की पैरवी करने वह अपने घर गया। यहाँ रेजिमेंट के अफसर की चिट्ठी मिली कि फौज लाम पर जाती है। फौरन चले आओ। साथ ही सूबेदार हजारासिंह की चिट्ठी मिली कि मैं और बोधासिंह भी लाम पर जाते हैं। लौटते हुए हमारे घर होते जाना। साथ चलेंगे। सूबेदार का गाँव रास्ते में पड़ता था और सूबेदार उसे बहुत चाहता था। लहनासिंह सूबेदार के यहां पहुँचा।

जब चलने लगे, तब सूबेदार 'बेड़े'+ में से निकल कर आया। बोला—'लहना, सूबेदारनी तुम को जानती हैं। बुलाती हैं? कब से? रेजिमेंट के क्वार्टरों में तो कभी सूबेदार के घर के लोग रहे नहीं। दरवाजे पर जाकर 'मत्था टेकना' कहा। असीस सुनी। लहनासिंह चुप।

'मुझे पहचाना?'

'नहीं।'

+ ज़नाने।

'तेरी कुड़माई हो गई ?—धत्—कल हो गई—देखते नहीं रेशमी बूटों वाला सालू—अमृतसर में—'

भावों की टकराहट से मूर्च्छा खुली। करवट बदली। पसली का घाव बह निकला।

'वजीरा, पानी पिला'—'उसने कहा था।'

× × ×

स्वप्न चल रहा है सूबेदारनी कह रही है—'मैंने तेरे को आते ही पहचान लिया। एक काम कहती हूँ। मेरे तो भाग फूट गये। सरकार ने बहादुरी का खिताब दिया है, लायलपुर में जमीन दी है, आज नमकहलाली का मौका आया है। पर सरकार ने हम तीमियों + की एक घघरिया पलटन क्यों न बना दी जो मैं भी सूबेदार जी के साथ चली जाती ? एक बेटा है। फौज में भर्ती हुए उसे एक ही बरस हुआ। उसके पीछे चार और हुए, पर एक भी नहीं जिया।' सूबेदारनी रोने लगी—'अब दोनों जाते हैं। मेरे भाग ! तुम्हें याद है, एक दिन टाँगे वाले का घोड़ा दही वाले की दुकान के पास बिगड़ गया था। तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाये थे। आप घोड़े की लातों में चले गये थे और मुझे उठा कर दुकान के तख्ते पर खड़ा कर दिया था। ऐसे ही इन दोनों को बचाना। यह मेरी भिक्षा है। तुम्हारे आगे मैं आँचल पसारती हूँ।'

रोती-रोती सूबेदारनी ओबरी × में चली गई। लहना भी आँसू पोंछता हुआ बाहर आया।

+ स्त्रियों। × अन्दर का घर

'वजीरासिंह, पानी पिला'—'उसने कहा था ।'

लहना का सिर अपनी गोद में रखे वजीरासिंह बैठा है। जब माँगता है, तब पानी पिला देता है। आध घण्टे तक लहना चुप रहा, फिर बोला—'कौन? कीरतसिंह?'

वजीरा ने कुछ समझ कर कहा—'हाँ ।'

'भइया, मुझे और ऊँचा कर ले। अपने पट्ट + पर मेरा सिंर रख ले ।'

'हाँ, अब ठीक है। पानी पिला दे। बस, अब के हाड़ × में यह आम खूब फलेगा। चाचा भतीजा दोनों यहीं बैठ कर आम खाना। जितना बड़ा तेरा भतीजा है उतना ही यह आम है। जिस महीने उसका जन्म हुआ था उसी महीने में मैंने इसे लगाया था।

वजीरासिंह के आँसू टप-टप टपक रहे थे।

× × ×

कुछ दिन पीछे लोगों ने अखबारों में पढ़ा—फ्रांस और बेल्जियम-६८ वीं सूची—मैदान में घावों से मरा—नं० ७७ सिख राइफल्स जमादार लहनासिंह।

+ जाँघ × आषाढ़

: दो :

विवाह

(श्री ज्वालादत्त शर्मा)

अङ्गनलाल सक्सेना बी० ए० का विद्यार्थी है। एंट्रेंस से ही उसने संस्कृत ले रक्खी है। अँगरेजी और संस्कृत के मिश्रशिक्षण ने उसका हृदय बहुत कुछ उन्नत कर दिया। माता-पिता से उसने जो स्वभाव प्राप्त किया था वह अब बहुत कुछ बदल गया है। शिक्षा की बारीक छलनी में छन कर उसकी क्रूरता और निर्दयता वीरता और नम्रता के रूप में परिणत हो गई है। वह बचपन की अपनी बातों को याद करके अब दुःखी हुआ करता है। उसने अपनी क्रूर स्वभाव के कारण बचपन में अनेक उत्पात किये थे। घसियारों की घास के गट्ठर और कहारियों के भरे हुए घड़े उसने एकबार नहीं, अनेक बार, गिराये और फोड़े थे। एकबार उसने ईख के रसपूर्ण घड़े पर भी ईंट-पात किया था। स्नान करते हुए ग्रामीणों को देखकर वह मन भर के हँसा था। कालेज के विद्यु-दीप-दीप्त होस्टल के कमरे में अङ्गनलाल प्रसंगवश जब कभी रात को अपने बाल्यकाल की कठोर क्रीड़ाओं का चिन्तन करता तब सचमुच उसका संस्कृत मन दुःख और पश्चात्ताप से भर जाता था। जिन गरीबों को उसने अकारण तंग किया था उनके लिए उसके हृदय में सहानुभूति का गहरा भाव पैदा हो जाता था। किन्तु वह घर की बूढ़ी कहारी के सिवा अब किसी को न जानता-

पहचानता था, जो उनके पास जाकर अपने अपराध को क्षमा कराता और उनकी क्षति पूर्ण कर देता। बूढ़ी कहारी को जब वह घर जाता था, एक रुपया दे आता था। बूढ़ी समझती थी कि लड़का मेरी सेवा से प्रसन्न हो कर मुझे इनाम देता है; किन्तु अञ्जन बाबू अपने कृत-कर्म का प्रायश्चित्त करके अपने मन को थोड़ा-बहुत हल्का करता था।

बड़े दिन की छुट्टियों से वापिस आने के एक सप्ताह बाद ही उसे पिता, मुन्शी मोतीलाल, का पत्र मिला। पत्र सदा की तरह खूब लम्बा था। मटीले कागज़ के कोई दो वर्के रँगे हुए थे। पत्र की नाप का लिफ़ाफ़ा न मिलने के कारण बूढ़े मुन्शी ने उसी काग़ज़ को मोड़ कर लिफ़ाफ़े का रूप प्रदान कर दिया था। अञ्जनलाल किसी के सामने पिता का पत्र न पढ़ता था। कालेज के संक्षेपताप्रिय लड़के बृहन्निघण्टु के उस बड़े नुसखे को देख कर ज़रूर हँसेंगे—यह उसकी पक्की और सच्ची धारणा थी। इसीलिए रात्री को, भोजनोपरान्त, कमरे के किवाड़ बन्द करके, उसने मुन्शी मोतीलाल का पत्र 'सोलह आने' खोला। आरम्भ की पाँच पंक्तियों में "बरखुरदार नूरचश्म" पुरस्सर अनेक आशीर्वादात्मक वचनों की सृष्टि सदा की तरह की गई थी। इन शब्दों को कार्ड में भी लिखना वे नहीं भूलते थे। उन्हें लिखते लिखते उनकी आँखें प्रायः आर्द्र हो जाती थीं। उसमें दिये गये प्रति आशीर्वाद को वे अवश्य फलप्रद समझते थे। प्राचीन ढर्रे के बचे हुए पिता जिस तरह इन आशीर्वादात्मक वाक्यों का लिखना न

भूलते थे, नव्य तंत्र का शिक्षित पुत्र उन्हें पढ़ने का कष्ट कभी स्वीकार न करता था। पर इससे क्या ? नीचे की कुल पंक्तियाँ तो उसे पढ़नी ही पड़ती थीं। घरेलू वृत्त को चतुर मुन्शी शब्दाडम्बर के गहन वन में इस तरह छिपा देते थे कि बिना सारा पत्र पढ़े मतलब समझना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य था। अञ्जनलाल ने पिता के दीर्घकाय पत्र का जो सार समझा, हम उसी को अपने शब्दों में नीचे लिखते हैं—

"बेटा तुम्हारी जिया (माता) अब तुम्हारी दुल्हन को देखने के लिये बहुत आतुर हो रही है। वह रोज मेरे कान खाती और कहती है कि कहीं बहू का मुँह देखे और लग्न का जोड़ा पहने बिना ही मैं न चल बसूँ ? प्रिय मैं तो जानता हूँ कि तुम बी० ए० पास करके विवाह करना चाहते हो, पर इसमें अभी दो वर्ष हैं। और, तुम्हारी जिया तो रोज़ अब मरी अब मरी, कह कर मुझे मारे डालती है। भाई, मैं बूढ़ा हूँ। यह दूसरी बात है कि "ईश्वर के करम से" जवानों से अच्छा हूँ; पर फिर भी पका हुआ आम हूँ। मालूम नहीं किस समय चू पड़ूँ। इन सब बातों को सोचकर मैंने तुम्हारा विवाह मुहल्ले के मुन्शी हरगोपाल की लड़की चुन्नी के साथ करना तय किया है। लड़की तुम्हारे साथ की खेली है। इसलिए उसके विषय में अधिक लिखने की जरूरत नहीं। अब रहा दहेज, सो उसके लिए मैंने लाला जी को खूब कस लिया है। वैसे तो बड़े रईस की दुम बनते थे; पर "ठहरावे" के समय लाला साहब बैल की तरह कंधा डाल गए। बड़ी मुश्किलों से १५००)

की शादी करने पर राजी हुए हैं। मैं जानता हूँ, तुम अँग्रेजी पढ़े लिखे लोग ठहरावे को बुरा समझते हो। पर यह तुम्हारी भूल है। बड़ी अच्छी रसम है। नहीं तो हमारे पुरखा क्या वेवकूफ थे जो ये रसमी बाँध गए हैं। तुम अभी इन बातों को क्या समझो ? अरे भाई! वे तो ५००) की शादी से चले थे। जब मैंने उनके वे ढंग देखे तब मैंने भी साफ-साफ कह दिया कि मेरा लड़का दस हज़ार को भी सस्ता है, चलो हवा खाओ ! यह सुनकर तो उन्हें दिन में तारे दिखलाई दे गये। तब कहीं लाला साहब १५००) को शादी करने पर तैयार हुए हैं। भैय्या, लोग बड़े दूकानदार हैं। अब तुम मेरी और अपनी माँ की बात को मान कर और मेरे बुढ़ापे पर तरस खाकर शादी को मंजूर कर लो। आजकल की बातें हैं कि पिता पुत्र से पूछ कर ब्याह पक्का करता है, नहीं तो हमारे "वालिद माजिद" ने तो हमसे जिक्र तक भी न किया था। और, करते भी कैसे ? उस समय हमारी, "ईश्वर रक्खे," कोई आठ साल की उम्र थी। खैर, मैं यह जानता हूँ कि तुम चाहे बी० ए० में पढ़ो चाहे पी० ए० में, किन्तु हो लायक बाप के बेटे।'

मुन्शी मोतीलाल ने बैंजनी स्याही से मटीले कागज़ के पूरे दो तख्ते लिखकर अन्त में पत्र को इस तरह समाप्त किया था—

'लिखने को अभी बहुत बातें हैं किन्तु आज मुझे कचहरी में एक ज़रूरी काम के लिए जाना है। इसलिए अब इसे यहीं समाप्त करता हूँ।'

पत्र को पढ़ कर अंगनलाल के मन में अनेक विचार उत्पन्न होने लगे। चुन्नी के लावण्यमय चेहरे का उदय उसमें बार-बार होने लगा। वह अनिन्द्य सुन्दर चन्द्रमुख पिता की आज्ञा को शिरोधार्य करने की जबर्दस्त सिफारिश उससे करने लगा। शिक्षित पुत्र इस विवाह को स्वीकार करके अपने हिसाब माता-पिता की आज्ञा पालन और नैतिक पुण्य प्राप्त करने का प्रपञ्च रच रहा था, किन्तु उसके मन के अन्तस्तल में चुन्नी के देवता दुर्लभ रूप का ही लोभ विशेष था।

पिता के पत्र का संक्षिप्त उत्तर लिख कर अङ्गनलाल ने निद्रा-देवी की गोद में आश्रय ग्रहण किया।

(२)

बरेली के बिहारीपुर मुहल्ले में खूब धूम-धाम है। मुन्शी मोतीलाल का मकान मेहमानों से भर रहा है। स्त्री-पुरुष के झुण्ड आ रहे हैं। एक ओर दावत का विराट् आयोजन है; दूसरी ओर नाच-गाने का पूरा प्रबन्ध है। शिक्षित पुत्र इन सब कामों को देख कर मन ही मन घुट रहा है; किन्तु पिता को इन अनर्थपूर्ण कामों से रोकने का उसमें साहस या दुस्साहस नहीं है।

मुन्शी शिवदयाल, जो मुन्शी मोतीलाल के अभिन्न मित्र हैं मद्य के नशे में मस्त हो रहे हैं। वे प्रबन्ध करने के बहाने प्रबन्ध की जी खोल कर मिट्टी पलीद कर रहे हैं। मुन्शी मोतीलाल को सामने से आता हुआ देख कर मुन्शी शिवदयाल पारे की तरह

बिखर गए और बोले—"सुना है, समधी ने सगुन में ३००) भेजे हैं और हम यहाँ उसके इन्तजार में चार सौ की पी गए। हा! हा! भतीजे का व्याह है।" यह कह कर उन्होंने शराबीजन-सुलभ एक विशेष मुद्रा का प्रकाश किया, जिसे देख कर बालक हँसने लगे और जवानों ने मुँह नीचे को कर लिया।

दूसरी ओर एक और बूढ़े मुन्शी खड़े हुए थिरक रहे थे। लड़कों की तालियाँ सुन कर वे, सफल व्याख्याता की तरह, घूम-घूम कर भाव बता रहे थे। इस ताण्डव-काण्ड को देख कर अङ्गनलाल के रोमाञ्च हो आये। उसने समझा कि विवाह का निर्विघ्न समाप्त होना मुश्किल है। जहाँ पिता जैसे दरियानोश और मुन्शी शिवदयाल जैसे चुल्लू में उल्लू होने वाले बराती मौजूद हों वहाँ जो उत्पात न हो जाय, थोड़ा है।

रात भर नाच होता रहा। मद्य की गंध से मँगनई की दरी, कालीन और चाँदनियाँ सभी बस गईं।

मकान में अपनी सच्ची सहधर्म्मिणी से मुन्शी मोतीलाल ने कहा—देखो, नंगे ने कैसा जोड़ा भेजा है। मैंने इसी लिए तो उसे कसा था। जोड़े में कसर कर गया। खत में लिखा है कि जोड़ा ६५।≈) ३ पाई की लागत का है। वाह! हमारे यहाँ की कहारियाँ ऐसे जोड़े पहनती हैं।

मुन्शी जी ने प्याले की पूर्णाहूति करते हुए कहा—मेरे जी में तो आया था कि उस वारहताली (समधन) के यहाँ जाकर

उससे दो दो हाथ कर आऊँ। लेकिन अपनी ओर देख कर चुप हो रही। लड़की का ब्याह करने चली है या झींकने !

इसी तरह के भिन्न-भिन्न स्तोत्रों से समधी-समधिन लड़की के माता-पिता के गुणगान करने लगे। बेचारा अर्जुन उस समय हर्बर्ट स्पेन्सर का समाज-शास्त्र पढ़ रहा था। किन्तु अपने घर की सामाजिक दशा का जीवन्त चित्र देखकर वह उसे अधिक न पढ़ सका। उसके विवाह में अब भी इक्कीस दिन की देर थी।

(३)

मुन्शी हरगोपाल साधारण प्रकृति के पुरुप थे। पिता जो कुछ थोड़ा-बहुत छोड़ गए थे उसी से वे अपना निर्वाह करते थे। रहने का मकान और छोटी सी एक मिलकियत थी। उसी में सीर करा कर मुन्शी हरगोपाल साल भर का अन्न प्राप्त कर लेते थे। मोटे लेन देन और खँडसाल से भी उन्हें खासी प्राप्ति हो जाती थी। इसी तरह वे बड़ी युक्ति से, पर प्रतिष्ठा के साथ, अपना काम चलाते थे। उनके एक लड़का और एक लड़की—चुन्नी थी। चुन्नी का भाई रघुवर एम० ए० के प्रथम वर्ष में पढ़ता था। विवेकी पिता ने अपनी आमदनी का अधिक भाग होनहार पुत्र की पढ़ाई में खर्च किया था। यद्यपि मुन्शी हरगोपाल टेम्परेन्स सोसायटी या कायस्थ कान्फ्रेंस के किसी अधिवेशन में भी सम्मिलित नहीं हुये थे, किन्तु फिर भी शराब को मुँह न लगाते थे।

अञ्जनलाल पर शुरू से उनकी नज़र थी। किन्तु उसके माता-पिता से उन्हें डर लगता था। लड़के की योग्यता को देख कर वे जरूर चाहते थे कि अपनी लड़की का विवाह उस के साथ करें। सब कुछ सोच-विचार कर उन्होंने बात चलाई। जैसा सोचते थे वैसा ही जवाब मिला। ५०००) तलब हुए। मुन्शी जी का सब कुछ बिक कर भी मुश्किल से इतना रुपया इकट्ठा हो सकता था। उनके विभिन्न कामों को देख कर लोग उन्हें जरूर मालदार समझते थे, किन्तु वे अपनी श्रमलब्ध आय से प्रतिष्ठा के साथ अपना काम चलाते जाते थे। मुहल्ले के दो-चार भले आदमियों को बीच में डाल कर उन्होंने मामले को पक्का किया। भाव-ताव होने लगे। मुन्शी मोतीलाल ने उसी दिन से मद्य की मात्रा सवाई करदी। आखिर को १५००) पर जाकर लड़के का सौदा हुआ। करीब एक हजार उनके पास था। बाकी रुपये के लिये उन्होंने कर्ज की व्यवस्था की। उनके एक ही लड़की थी। इसलिए उन्होंने सोचा कि लड़की की भलाई के लिए अपनी कुछ दिनों की तकलीफ का विचार न करना चाहिए। कर्ज के लिये बात-चीत हो गई। कागज़ ख़रीद लिया गया। एक-दो रोज में रुपया मिल जाता कि इतने ही में लग्न भेज कर वृद्ध हरगोपाल मस्तिष्क ज्वर से पीड़ित हो गये। चार दिन तक होश न हुआ। मुहल्ले में ही समधियाना था। मुन्शी मोती-लाल भी देखने आये। इस समय भी हरगोपाल बेहोश थे। अञ्जनलाल ने पहिले तो वहाँ जाने में संकोच किया। किन्तु जब

उसे मालूम हुआ कि मुन्शी हरगोपाल का हाल बुरा है तब वह तत्काल वहाँ पहुँचा। उस समय उसे ध्यान भी न रहा कि वह ससुराल जा रहा है। मकान में जाते ही उसने सदा की तरह चुन्नी को पुकारा। चुन्नी बेहोश पिता के मुँह में जल डाल रही थी। उसने जवाब तो कुछ न दिया, एक गम्भीर, पर कातर-दृष्टि से उसे देख भर लिया। उस दुःख भरी सुकोमल दृष्टि में कितनी तीक्ष्णता थी, कितनी वेदना थी—अंगनलाल अनुभव करने लगा। माँ ने आकर लड़की को अंदर भेज दिया। अंगनलाल बहुत देर तक बैठा रहा। हाल पूछता रहा। वह चुन्नी की माँ को चाची कहा करता था। उसने कहा—चाची जी, आप कहें तो मैं रात को यहीं रह जाऊँ। आप किसी तरह का संकोच न कीजिएगा। किन्तु चुन्नी की माता ने उसे रोकने की आवश्यकता न समझी।

दूसरे दिन मुहल्ले के सब आदमियों ने बड़े दुःख से सुना कि मुन्शी हरगोपाल का देहावसान हो गया।

(४)

मुन्शी मोतीलाल की छोटी सी बैठक में उनके मित्र मुन्शी शिवदयाल बैठे हुये हैं। रात्रि का समय है। यथासिलितोपचार से भगवती वारुणी का आवाहन हो रहा है। दोनों मित्र मौज में आ पी रहे हैं। बातें हो रही हैं। मुन्शी शिवदयाल ने चुस्की भरते हुए पूछा—भाई हुआ बुरा, लड़की का नसीब !

मुन्शी मोतीलाल ने कहा—भाई, मौत में किसका इजारा

है। पर तुमने और भी सुना! वह वेवा कुछ रंगत बदल रही है। कहती है कर्ज लेकर शादी करना चाहते थे। अब कर्ज मिलता नहीं। कहाँ से रुपया आवे। अब तुम्हारे हाथ की लाज है। कहो भाई; शिवदयाल, तुम्हें भी यक़ीन होता है कि उस कंजूस को रुपया कर्ज लेने की जरूरत थी। हमने कभी उसे खाते-पीते नहीं देखा, कभी होली-दिवाली पर, तुम्हीं कहो, वह एक बूँद शराब पिलाता तो क्या पीता भी था?

"राम! राम!! वह तो ऐसा कम्बख्त था कि न पिये था न पिलाये था। हमें तो इस बात का रत्ती भर यक़ीन नहीं होता।"

"मैं भी इन धोखे वाली बातों में आने वाला नहीं।"

इसी समय द्वार खुला और मुहल्ले के दो भले मानसों ने प्रवेश किया। मुन्शी मोतीलाल ने बड़ी आवभगत से उन्हें लिया और स्वागत के तौर पर मद्य का प्याला उनके सामने उपस्थित किया। उन्होंने बड़ी नम्रता से निषेध किया और कहा—

"इस समय हम आपकी सेवा में इसलिए उपस्थित हुए हैं कि कल, जैसा कि आपको मालूम है, लाला हरगोपाल जी के यहाँ शुद्धि आदि तो हो गई। अब भी विवाह में सात दिन बाक़ी हैं। आज्ञा हो तो इसी मिति पर, नहीं १०-१२ दिन बाद, किसी शुभ मुहूर्त में यह काम हो जाना चाहिये। अब बेवा की इज्जत आपके हाथ में है। वहाँ लड़की और गंगाजल के सिवा और कुछ नहीं है।"

मुन्शी मोतीलाल ने कबाब के टुकड़ों को चबाकर निगलने

की सुविधा को न देख वैसे ही कण्ठ से नीचे उतारते हुए कहा— भाई इन बातों को रहने दो। उससे कह दो, शादी चाहे छः माह बाद कर दे; किन्तु "करार-दाद" का जो रुपया बाक़ी है वह उसे देना होगा। नहीं दूसरा लड़का तजवीज़ कर ले। भाई शिवदयाल तुम्हें मालूम ही है कि 'नन्हें की कैसे-कैसे ऊँचे-ऊँचे घरानों से सगाई आती थी। और अब भी क्या बिगड़ा है। उन्हें लड़के बहुत, हमें लड़कियाँ बहुत। यह कहते-कहते मुन्शीलाल ने मद्य का आधा गिलास एक ही घूँट में पी डाला।

इसी बीभत्स काण्ड को देखकर और ऊपर लिखी अमानुषिक बातों को सुनकर उन दोनों सज्जनों को अपनी सफलता में भारी संदेह हो गया। किन्तु उन्होंने फिर एक बार कुछ कहना चाहा था कि मुन्शी मोतीलाल ने बड़ी तेज़ी से जवाब दिया—"महाशय आप मुझे बेवकूफ़ न बनाइये। कल प्रातःकाल उसका सब सामान जो लग्न में आया है, अपना खर्च काट कर आप लोगों के सामने उसके हवाले कर दूँगा। बस ज्यादा बकझक से कुछ फ़ायदा नहीं।"

दोनों भलेमानस ठंडी सी साँस लेकर वहाँ से उठ आये।

(५)

"चुन्नी।"

"हाँ नन्हे जी—" उसकी ज़बान से भी एक साथ निकल गया। भावावेश में मानसिक व्यापार का अस्त-व्यस्त हो जाना नितांत स्वाभाविक है!

अङ्गनलाल ने अन्दर जाकर अपनी सासले कहा—विवाह अभी होगा। ठीक-ठाक कीजिये। वाहर वे दोनों भद्र पुरुष बैठे हैं वे इसी समय विवाह हो जाना उचित समझते हैं। मुझसे अब तक पिताजी ने कुछ नहीं कहा। यदि कुछ कह दिया तो मैं बड़ी दुविधा में पड़ जाऊँगा। लग्न वापिस हो जाने पर बड़ी दिक्कत हो जायेगी। आप विलम्ब न करें। मुहल्ले के प्रतिष्ठित आदमी अभी एक घण्टे में एकत्र हुए जाते हैं।

विधवा पहले तो कुछ न समझी। किन्तु थोड़ी देर ही में एक-एक करके सभी बातें उसके शोकाकुल दिमाग में बैठ गईं।

दो घण्टे के अन्दर ही घर का नकशा ही बदल गया। जो घर दीर्घ-निश्वासों और करुण-रोदन से, कुछ समय पहले शोक की मूर्ति बना हुआ था, अब वैवाहिक मन्त्रों की मधुर ध्वनि से पूरित हो गया। पाणिग्रहण के समय अङ्गनलाल ने जब चुन्नी का काँपता हुआ हाथ पकड़ा तब उसे एक विशेष प्रकार के आनन्द का अनुभव हुआ। उसने बचपन से अनेक वार उस हाथ को पकड़ा था, किन्तु उसमें वैसी उष्णता, वैसी कृतज्ञता की अनुभूति और वैसा अनिर्वचनीय भाव इससे पहले उसे कभी अनुभूत न हुआ था।

प्रातःकाल छः बजे जब पुत्र को स्थान पर न पाकर पिता मोतीलाल क्रोध में भरे हुए और लग्न के सामान की गठरी बगल में मारे, अपने मित्र शिवदयाल के साथ विधवा के मकान पर आये तब प्रातःकाल की मन्द समीर में मिले हुए घृत, यज्ञ धूम

की मनोहर सुगन्धि से उनके द्वेषपूर्ण मन को जरूर कुछ शान्ति प्राप्त हुई। मुन्शी मोतीलाल जानते थे कि अङ्गनलाल जरूर अपनी शीघ्र टूटने वाली ससुराल गया होगा, और कहीं विधवा उसे अपने वाग्जाल में न फँसा ले, इसी भय से वे इस सम्बन्ध को विच्छिन्न करने के लिये, मित्र को साथ लेकर यथा-शीघ्र आये थे। बाहर बैठे आदमी से उन्होंने साधारणतया पूछा—नन्हे कहाँ है ?

भोले नौकर ने साधारणतया उत्तर दिया—अभी अन्दर ही है, आप भी जा सकते हैं। चुन्नी का हाथ पकड़े हुए अभी अङ्गनलाल विवाह की वेदी से उठा ही था कि पिता के दर्शन हुए। पिता भी जो कुछ देख रहे थे उसे वेदांतियों की माया की तरह अनिर्वचनीय समझते थे—न सच समझते थे, न झूठ। चित्रवत् खड़े थे शाँत दृश्य को देख रहे थे। अङ्गनलाल ने अपनी वधू से कहा—"चुन्नी, पिताजी के चरण छुओ। इन्हीं चरणों की सेवा करने के लिए मैंने आज तुम्हारा पाणिग्रहण किया है।"

जिस समय वधू विद्यावती, उर्फ़ चुन्नी ने ससुर के चरण स्पर्श किये उस समय कठोर मोतीलाल का पाषाण-हृदय भी द्रवीभूत हो गया। वधू के सौभाग्यपूर्ण चेहरे को देखकर, पुत्र के साहस और उसकी हृदयता को देखकर, या पुत्र विवाह के प्राकृतिक हर्ष से आत्म-विस्मित होकर, उसने चुन्नी बहू के सिर पर हाथ रखकर कहा—प्यारी बेटी सौभाग्यवती हो।

लग्न के सामान की गठरी बगल में दबाये ठण्डे पाँव वापिस आकर जब उन्होंने नन्हे की माँ से आकर कहा—सुनती हो

तुम्हारे नन्हें का विवाह हो गया, तैयारी करो—वहू आती है—उस समय सचमुच बूढ़े के चेहरे पर कठोरता या नीचता का भाव निशान को भी नहीं था। उसका झुर्री पड़ा चेहरा पुत्र की सहृदयता और वधू की सौभाग्य-शालीनता से अभिभूत हो कर एक स्वर्गीय भाव से आलोकित हो रहा था।

तीन

इक्केवाला

(विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक)

स्टेशन के वाहर आकर मैंने अपने साथी मनोहरलाल से कहा—कोई इक्का मिल जाय, तो अच्छा है—दस मील का रास्ता है। मनोहरलाल वोले—आइये, इक्के वहुत हैं। उस तरफ़ खड़े होते हैं।

हम दोनों चले। लगभग दो सौ गज चलने के पश्चात् देखा, तो सामने एक वड़े वृक्ष के नीचे तीन-चार इक्के खड़े दिखाई दिये। एक इक्का अभी आया था और उस पर से दो आदमी अपना असवाव उतार रहे थे। मनोहरलाल ने पुकारा—कोई इक्का गंगापुर चलेगा ?

एक इक्के वाला वोला—आइये सरकार मैं, ले चलूँ। कै सवारी हैं ?

'दो सवारी—गंगापुर का क्या लोगे ?'

'जो सब लेते हैं, वही आप भी दे दीजियेगा।'

'आखिर कुछ मालूम तो हो ?'

'दो रुपये का निरख (निर्ख)

'दो रुपये ?—इतना अन्धेर !'

इसी समय जो लोग अभी आये थे, उनमें और इक्केवाले

में झगड़ा होने लगा। इक्केवाला बोला—यह अच्छी रही, वहाँ से डेढ़ रुपया तय हुआ, अब यहाँ बीस ही आने दिखाते हैं।

यात्रियों में से एक बोला—हमने पहले ही कह दिया था, कि हम बीस आने से एक पैसा अधिक न देंगे।

'मैंने भी तो कहा था, कि डेढ़ रुपये से एक पैसा कम न लूँगा।'

'कहा होगा, हमने तो सुना नहीं!'

'हाँ, सुना नहीं—ऐसी बात आप काहे को सुनेंगे!'

'अच्छा तुम्हें बीस आने मिलेंगे—लेना हो तो लो, नहीं अपना रास्ता लो।'

इक्केवाला, जो हृष्ट-पुष्ट गौरवर्ण था, अकड़ गया—बोला—रास्ता कैसे देखें, कोई अन्धेर है! ऐसे रास्ता देखने लगें, तो बस कमाई कर चुके। बायें हाथ से इधर डेढ़ रुपया रख दीजिये, तब आगे बढ़ियेगा! वहाँ तो बोले, अच्छा जो तुम्हारा रेट होगा वह देंगे; अब यहाँ कहते हैं, रास्ता देखो—अच्छे मिले!

हम लोग यह कथोपकथन सुनकर इक्का करना भूल गये और उनकी बातें सुनने लगे। एक यात्री बड़ी गम्भीरता पूर्वक बोला—देखो जी, यदि तुम भलमनसी से बातें करो, तो दो-चार पैसे हम अधिक दे सकते हैं, गरीब आदमी हो, लेकिन जो झगड़ा करोगे, तो एक पैसा न मिलेगा।

इक्केवाला किंचित् मुस्कराकर बोला—दो-चार पैसे! ओफ ओह—आप तो बड़े दाता मालूम होते हैं! जब चार पैसे देते हो, तो चार आने ही क्यों नहीं देते?

'चार आने हमारे पास नहीं हैं।'

'नहीं हैं—अच्छी बात है, तो जो आपके पास हो वही दे दीजिए—न हो न दीजिए और ज़रूरत हो तो एकाध रुपया मैं आपको दे सकता हूँ।'

'तुम बेचारे क्या दोगे, दो-चार पैसे के लिये तो तुम झूठ बोलते हो और बेईमानी करते हो।'

'अरे बाबूजी, लाखों रुपयों के लिए तो मैंने बेईमानी की नहीं चार पैसे के लिए बेईमानी करूँगा? बेईमानी करता तो इस समय इक्का न हाँकता होता—ख़ैर आपको जो देना हो दे दीजिये—नहीं जाइए—मैंने किराया भर पाया।'

उन्होंने बीस आने निकाल कर दिये। इक्केवाले ने चुपचाप ले लिये।

उस इक्केवाला का आकार-प्रकार, उसकी बात-चीत से मुझे कुछ ऐसा प्रतीत हुआ कि अन्य इक्केवालों की तरह यह साधारण आदमी नहीं है। इसमें कुछ विशेषता अवश्य है; अतएव मैंने सोचा कि यदि हो सके, तो गंगापुर इसी के इक्के पर चलना चाहिए। यह सोच कर मैंने उससे पूछा—गंगापुर चलोगे?

वह बोला—हाँ! हाँ! आइये!

'क्या लोगे?'

'वही डेढ़ रुपया!'

मैंने सोचा, अन्य इक्केवाले तो दो रुपये माँगते थे, यह

डेढ़ रुपया कहता है, आदमी सच्चा मालूम होता है। यह सोच-कर मैंने कहा—अच्छी बात है, चलो डेढ़ रुपया देंगे।

हम दोनों सवार होकर चले। थोड़ी दूर चलने पर मैंने पूछा—ये दोनों कौन थे ? इक्केवाले ने कहा नारायण जाने कौन थे, परदेसी मालूम होते हैं; लेकिन परले सिरे के झूठे और बेइ-मान ! चार आने के लिये प्राण तजे दे रहे थे।

मैंने पूछा—तो क्या सचमुच तुमसे डेढ़ रुपया ही तय हुआ था !

'और नहीं क्या आप झूठ समझते हैं ?' बाबू जी, यह पेशा ही बदनाम है, आपका कोई कसूर नहीं ? इक्के, तांगेवाले सदा झूठे और बेईमान समझे जाते हैं। और होते भी हैं—अधिकतर तो ऐसे ही होते हैं। इन्हें चाहे रुपये की जगह सवा रुपया दीजिये तब भी सन्तुष्ट नहीं होते।

मैंने पूछा—तुम कौन जाति हो ?

"मैं ? मैं तो सरकार वैश्य हूं।'

'अच्छा ! वैश्य होकर इक्का हाँकते हो।'

'क्यों सरकार, इक्का हाँकना कोई बुरा काम तो है नहीं ?'

'नहीं मेरा मतलब यह नहीं है कि इक्का हाँकना कोई बुरा काम है। मैंने इसलिए कहा कि वैश्य तो बहुधा व्यापार करते हैं।

'यह भी तो व्यापार ही है।'

'हाँ है तो व्यापार ही।'

मैं मन ही मन अपनी इस बेतुकी बात पर लज्जित हुआ,

अतएव मैंने प्रसंग बदलने के लिए पूछा—कितने दिनों से यह काम करते हो ?

'दो बरस हो गये।'

'इसके पहले क्या करते थे ?'

यह सुनकर इक्के वाला गम्भीर होकर बोला—क्या बताऊँ क्या करता था।

उसकी इस बात से तथा यात्रियों से उसने जो बातें कही थीं उनका तारतम्य मिलाकर मैंने सोचा—इस व्यक्ति का जीवन रहस्यमय मालूम होता है। यह सोचकर मैंने उससे पूछा—कोई हर्ज न समझो, तो बताओ।

'हर्ज तो कोई नहीं है बाबूजी ! पर मेरी बात पर लोगों को विश्वास नहीं होता। इक्के वाले बहुधा परले-सिरे के गप्पी समझे जाते हैं, इसलिए मैं किसी को अपना हाल सुनाता नहीं।'

'खैर, मैं उन आदमियों में नहीं हूं, यह तुम विश्वास रखो।

'अच्छी बात है सुनिये—

(२)

मैं अगरवाल बनियां हूं। मेरा नाम श्यामलाल है। मेरा जन्मस्थान मैनपुरी है। मेरे पिता व्यापार करते थे। जिस समय मेरे पिता की मृत्यु हुई, उस समय मेरी उम्र १५ साल की थी। पिता के मरने पर घर-गृहस्थी का सारा भार मेरे ऊपर पड़ा। मैंने एक वर्ष तक काम-काज चलाया, पर मुझे व्यापार का अनुभव न था, इस कारण घाटा हुआ और मेरा सब काम बिगड़

गया। अन्त को और कोई उपाय न देख मैंने वहीं एक धनी आदमी के यहाँ नौकरी कर ली। उस समय मेरे परिवार में मेरी माता और एक छोटी बहन थी। जिनके यहाँ मैंने नौकरी की थी वह थे तो मालदार, परन्तु बड़े कंजूस थे। ऊपर से देखने में वह एक मामूली हैसियत के आदमी दिखाई पड़ते थे, परन्तु लोग कहते थे, कि उनके पास एक लाख के लगभग नक़द रुपया है। उस समय मैंने लोगों की बात पर विश्वास नहीं किया था, क्योंकि घर की हालत देखने से किसी को यह विश्वास नहीं हो सकता था, कि उनके पास इतना रुपया होगा। उनकी उम्र उस समय चालीस से ऊपर थी। उन्होंने दूसरी शादी की थी और उनकी पत्नी की उम्र बीस वर्ष के लगभग थी। पहली स्त्री से उनके एक लड़का था। वह जवान था और उसका विवाह इत्यादि सब हो चुका था। उसका नाम शिवचरण लाल था। पहले तो वह अपने पिता के पास ही रहता था, परन्तु जब पिता ने दूसरा विवाह किया, तो वह नाराज होकर अपनी स्त्री सहित फर्रुखाबाद चला गया। वहाँ उसने एक दुकान कर ली और वहीं रहने लगा।

उन दिनों मुझे कसरत करने का शौक था, इसलिए मेरा बदन बहुत अच्छा बना हुआ था। कुछ दिनों पश्चात् मेरी मालिकिन मेरी बहुत खातिर करने लगीं। खूब मेवा-मिठाई खिलाती थीं और महीने में दस-बीस रुपये नकद दे देती थीं। इस कारण दिन बड़ी अच्छी तरह कटने लगे। मैं मालिकिन के

खातिर करने का असली मतलब उस समय नहीं समझा। मैंने जो समझा, वह यह था, कि मेरी सेवा से प्रसन्न होकर तथा मुझे गरीब समझ कर वह ऐसा करती हैं। आख़िर जब एक दिन उन्होंने मुझे एकान्त में बुलाकर छेड़-छाड़ की, तब मेरी आँखें खुलीं। मुझे आरम्भ से ही इन कामों से नफ़रत थी। मैं इन बातों को जानता भी नहीं था, न कभी ऐसी संगति ही में रहा था जिसमें इन बातों का ज्ञान प्राप्त होता। मैं उस समय जो जानता था वह यह था; कि आदमी को खूब कसरत करनी चाहिए और स्त्रियों से बचना चाहिये। जब मालिकिन ने छेड़-छाड़ की, तो मुझे उनके प्रति अनुराग उत्पन्न होने के बदले भय मालूम हुआ। मेरा कलेजा धड़कने लगा। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि वह एक चुड़ैल है और मुझे भक्षण करना चाहती है।

इक्के वाले की इस बात पर मेरे साथी मनोहरलाल बहुत हँसे, बोले—तुम तो बिलकुल बुद्धू थे जी!

श्यामलाल बोला—अब जो समझिये, परन्तु बात ऐसी ही थी। खैर, मैं अपना हाथ छुड़ाकर उनके सामने से भाग आया अब मुझे उनके सामने जाते डर मालूम होने लगा। यही खटका लगा रहता था, कि कहीं किसी दिन फिर न पकड़ ले। तीन-चार दिन बाद वही हुआ। उन्होंने अवसर पाकर फिर मुझे घेरा। उस दिन मैंने उनसे साफ़-साफ़ कह दिया, कि यदि वह ऐसी हरकत करेंगी, तो मैं मालिक से कह दूंगा। बस उसी दिन से मेरी खातिर बन्द हो गई। केवल खातिर बन्द होकर रह जाती;

वहाँ तक गनीमत थी, परन्तु अब उन्होंने मुझे तङ्ग करना आरम्भ किया। बात-बात पर डांटती थीं। कभी मालिक से शिकायत कर देती थीं। आखिर जब एक दिन मालिक ने मुझे मालिकिन के कहने से बहुत डांटा, तो मैंने उन्हें अलग ले जा कर कहा—लालाजी, मेरा हिसाब कर दीजिये, मैं अब आप के यहाँ नौकरी नहीं करूँगा। लालाजी लाल-पीली आँखें करके बोले—एक तो कसूर करता है और उस पर हिसाब माँगता है? मुझे भी तेहा आगया। मैंने कहा—कसूर किस ससुरे ने किया है? लालाजी बोले—तो क्या मालिकिन झूठ कहती है? मैंने कहा—बिल्कुल झूठ! लालाजी ने कहा—तेरे से उनकी शत्रुता है क्या? मैंने कहा—हाँ शत्रुता है। उन्होंने पूछा—क्यों? मैंने कहा—अब आप से क्या बताऊँ। आप उसे भी झूठ मानेंगे। इसलिए सबसे अच्छी बात यही है, कि मेरा हिसाब कर दीजिए। मेरी बात सुनकर लाला के पेट में खलबली मची। उन्होंने कहा—पहले यह बता, कि बात क्या है? मैंने कहा—उसके कहने से कोई फायदा नहीं, आप मेरा हिसाब दे दीजिए, परन्तु लाला मेरे पीछे पड़ गये। मैंने विवश होकर सब हाल बता दिया। मुझे भय था, कि लाला को मेरी बात पर विश्वास न होगा। पर ऐसा नहीं हुआ। लाला ने मेरी पीठ पर हाथ फेर कर कहा—शाबाश श्यामलाल, मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ। अब तुम आनन्द से रहो, तुम्हारी तरफ कोई आँख उठाकर नहीं देख सकेगा। बस उस दिन से मैं निर्द्वन्द्व हो गया। अब

अधिकतर मैं मालिक के पास बाहर ही रहने लगा, भीतर बहुत कम जाता था। उसके पश्चात् भी मालिकिन ने मेरे निकलवाने के लिये चेष्टा की पर लाला ने उनकी एक न सुनी, आखिर वह भी हार कर बैठ रही।

इस प्रकार एक वर्ष और बीता। इस बीच में लाला के एक रिश्तेदार—जो उनके चचेरे भाई होते थे—बहुत आने-जाने लगे। उनकी उम्र पचीस-छब्बीस वर्ष के लगभग होगी। शरीर के मोटे ताजे और तन्दुरुस्त आदमी थे। पहले तो मुझे उनका आना-जाना कुछ नहीं खटका; कि वह मालिकिन के पास घण्टों बैठे रहते हैं, तो मुझे हुआ, कि हो-न-हो दाल में कुछ काला अवश्य है। लाला जी अधिकतर दूकान में रहने के कारण यह बात न जानते थे। घर का कहार भी मालकिन से मिला हुआ मालूम होता था; इसलिए वह भी चुप्पी साधे था। एक मैं ही ऐसा था, जिसके द्वारा लाला को यह खबर मिल सकती थी। अन्त में मैंने इस रहस्य का पता लगाने पर कमर बाँधी और एक दिन अपनी आँखों उनकी पापमयी लीला देखी। बस उसी दिन मैंने लाला को खबर कर दी। लाला उस बात को चुपचाप पी गये। आठ-दस रोज बाद लाला ने मुझे बुलाकर कहा—श्यामलाल, तेरी बात ठीक निकली, आज मैंने भी देखा। जिस दिन तूने कहा था, उसी दिन से मैं इसकी टोह में था—आज तेरी बात की सत्यता प्रमाणित हो गई। अब बता, क्या करना चाहिए? मैंने इस उम्र में विवाह करके बड़ी भूल की; पर अब इसका

उपाय क्या है ? मैंने कहा—अपने भाई साहब का आना-जाना बन्द कर दीजिए, यही उपाय है और हो ही क्या सकता है ? लाला ने सोच कर कहा—हाँ, यही ठीक है। जी में तो आता है, कि इस औरत को निकाल बाहर करूँ; पर इसमें बड़ी बदनामी होगी। लोग हँसेंगे कि पहले तो विवाह किया फिर निकाल दिया।

मैंने कहा—हाँ, यह तो आप का कहना ठीक है। बस उनका आना-जाना बन्द कर दीजिए; अतएव उसी दिन से यह हुकम लग गया, लाला की अनुपस्थिति में बाहर का कोई आदमी—चाहे रिश्तेदार हो, चाहे कोई हो—अन्दर न जाने पावे। और यह काम मेरे सुपुर्द किया गया। उस दिन से मैंने उन्हें नहीं घुसने दिया। इस पर उन्होंने मुझे प्रलोभन भी दिये, धमकी भी दी; पर मैंने एक न सुनी। मालकिन ने भी बहुत कुछ कहा सुना, खुशामद की; पर मैं जरा भी न पसीजा। कहरवा भी बोला—तुम से क्या मतलब है, जो होता है, होने दो। मैंने उससे कहा-सुनता है वे, तू तो पक्का नमक-हराम है, जिसका नमक खाता है, उसी के साथ दगा करता है। खैरियत इसी में है, कि चुप रह, नहीं तो तुझे भी निकाल बाहर करूँगा।

यह सुन कर कहारराम चुप हो गये।

थोड़े दिन बाद लाला के उन रिश्तेदारों ने आना-जाना बिलकुल बन्द कर दिया। अब वह लाला के पास भी नहीं आते थे। मैंने भी सोचा, चलो अच्छा हुआ, आँख फूटी पीर गई।

इसके छः महीने बाद एक दिन लाला को हैजा हो गया। मैंने बहुत दौड़-धूप की; इलाज इत्यादि कराया, पर कोई फ़ायदा न हुआ। लाला जी समझ गये, कि अन्त समय निकट है; अतएव उन्होंने मुझे बुला कर कहा—श्यामलाल, मैं तुझे अपना नौकर नहीं, पुत्र समझता हूँ; इसलिए मैं अपनी कोठरी की ताली तुझे देता हूँ। मेरे मरने पर ताली मेरे लड़के को देना और जब तक वह आ न जाय, तब तक किसी को कोठरी न खोलने देना। बस तुझ से मैं इतनी अन्तिम सेवा चाहता हूँ।

मैंने कहा—ऐसा ही होगा, चाहे मेरे प्राण ही क्यों न चले जायँ; पर मैं इसमें अन्तर न पड़ने दूँगा। इसके पश्चात् उन्होंने मुझे पाँच हज़ार रुपये नक़द दिये और बोले—यह लो, मैं तुम्हें देता हूँ। मैं लेता न था; पर उन्होंने कहा—तू यदि यह न लेगा, तो मुझे दुःख होगा; अतएव मैंने ले लिये। इसके चार घण्टे बाद उनका देहान्त हो गया। उनके लड़के को उनके मरने के तीन घण्टे पहले तार दे दिया था। उनके मरने के पाँच घण्टे बाद वह मैनपुरी पहुँचा था। उनका देहान्त रात को आठ बजे हुआ और वह रात के दो बजे के निकट पहुँचा था। लाला के मरने के बाद उनकी स्त्री ने मुझसे कहा—कोठरी की ताली लाओ। मैंने कहा—ताली तो लाला, शिवचरण लाल के हाथ में देने को कह गये हैं, मैं उन्हीं को दूँगा। उन्होंने कहा— अरे मूर्ख, इससे तुझे क्या मिलेगा। कोठरी खोल कर रुपया निकाल ले—मुझे

मत दे, तू ले ले, मैं भी तेरे साथ रहूँगी, जहाँ तू ले चलेगा तेरे साथ चलूँगी। मैंने कहा—मुझ से यह नहीं होगा। मैं तुम्हें ले जाकर रखूँगा कहाँ? दूसरे तुम मेरे उस मालिक की स्त्री हो, जो मुझे अपने पुत्र के समान मानता था। मुझसे यह न होगा, कि तुम्हें अपनी स्त्री बना कर रखूँ।

बाबूजी, एक घण्टे तक उसने मुझे समझाया, रोई भी, हाथ भी जोड़े; परन्तु मैंने एक न मानी। आख़िर उसने अन्य उपाय न देख अपने देवर; अर्थात् उन्हीं को बुलवाया, जिनका आना-जाना मैंने बन्द कराया था। उन्होंने आते ही बड़ा रुआब झाड़ा। मुझे पुलिस में देने की धमकी दी, पर मैं इससे भयभीत न हुआ। तब वह ताला तोड़ने पर आमादा हुए। मैं कोठरी के द्वार पर एक मोटा डंडा लेकर बैठ गया और मैंने उनसे कह दिया कि जो कोई ताला तोड़ने आवेगा, पहले मैं उसका सिर तोड़ूँगा, इसके बाद जो होगा देखा जायगा। बस फिर उनका साहस न हुआ। इसी रगड़े-झगड़े में रात के दो बज गये और शिवचरण लाल आ गये। मैंने उनको ताली दे दी और सब हाल बता दिया।

बाबूजी, जब कोठरी खोली गई, तो उसमें से साठ हज़ार रुपये नक़द निकले। इन रुपयों का हाल लाला के अतिरिक्त और किसी को भी मालूम न था। यदि मैं मालिकिन की बात मानकर बीस-पच्चीस हज़ार रुपये भी निकाल लेता, तो किसी को भी सन्देह न होता, पर मेरे मन में इस बात का विचार एक क्षण

के लिये भी पैदा न हुआ। मेरी माँ रोज़ रामायण पढ़कर मुझे सुनाया करती थीं, और मुझे यही समझाया करती थीं कि—बेटा, पाप और बेईमानी से सदा बचना, इससे तुझे कभी दुःख न होगा। उनकी यह बात मेरे जी में बसी हुई थी और इसीलिए मैं बच गया। उसके बाद शिवचरण लाल ने भी मुझे एक हज़ार रुपया दिया। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि—तुम मेरे पास रहो; पर लाला के मरने से और जो अनुभव मुझे हुए थे; उनके कारण मैंने उनके यहां रहना उचित न समझा। लाला की तेरहीं होने के बाद मैंने उनकी नौकरी छोड़ दी। छः हज़ार रुपये में से दो हज़ार मैंने अपनी बहन के ब्याह में खर्च किये और दो हज़ार अपने ब्याह में। एक हज़ार लगाकर एक दूकान की, और एक हज़ार बचा कर रक्खा; दर दूकान में फिर घाटा हुआ। तब मैंने मैनपुरी छोड़ दी और इधर चला आया। नौकरी करने की इच्छा नहीं थी, इसलिए मैंने इक्का-घोड़ा खरीद लिया और किराये पर चलाने लगा—तब से बराबर यही काम कर रहा हूँ। इसमें मुझे खाने भर को मिल जाता है। अपने आनन्द से रहता हूँ। न किसी के लेने में हूँ, न देने में। अब बताइये, यह बाबू कहते थे कि चार आने के पैसे के लिये मैं बेईमानी करता हूँ। अब मैं उनसे क्या कहता। यह तो दुनिया है, जो जिसकी समझ में आता है, कहता है। मैं भी सब सुन लेता हूँ। इक्केवाले बदनाम हैं; इसलिए मुझे भी ये बातें सुननी पड़ती हैं।

श्यामलाल की आत्म-कहानी सुनकर मैं कुछ देर तक स्तब्ध बैठा रहा। इसके पश्चात् मैंने कहा—भाई तुम तो दर्शनीय आदमी हो, तुम्हारे तो चरण छूने को जी चाहता है।

श्यामलाल हँस कर बोला—अजी बाबूजी, क्यों काँटों में घसीटते हो। मेरे चरण आप छूएँ—राम! राम! मैं कोई साधु थोड़ा ही हूँ।

मैंने कहा—और साधु कैसे होते हैं, उनके कोई सुर्खाब का पर तो लगा होता नहीं। सच्चे साधु तो तुम्हीं हो। यह सुन कर श्यामलाल हँसने लगा। इसी समय गंगापुर आ गया और हम लोग इक्के से उतरकर अपने निर्दिष्ट स्थान की ओर चल दिये।

रास्ते में मैंने मनोहरलाल से कहा—इस संसार में अनेकों लाल गुदड़ी में छिपे पड़े हैं। उन्हें कोई जानता तक नहीं।

मनोहरलाल—जी हाँ! और नामधारी ढोंगी महात्मा ईश्वर की तरह पूजे जाते हैं।

बात बहुत पुरानी हो गई है, पता नहीं महात्मा श्यामलाल अब भी जीवित हैं या नहीं, परन्तु अब भी जब कभी उनका स्मरण हो आता है, तो मैं उनकी काल्पनिक मूर्ति के चरणों में अपना मस्तक नत कर देता हूँ।

चार :

हार की जीत

(सुदर्शन)

[१]

माँ को अपने बेटे, साहूकार को अपने देनदार और किसान को अपने लहलहाते खेत देखकर जो आनन्द आता है, वही आनन्द बाबा भारती को अपना घोड़ा देखकर आता था। भगवद्भजन से जो समय बचता, वह घोड़े के अर्पण हो जाता। यह घोड़ा बड़ा सुन्दर था बड़ा बलवान। इसके जोड़ का घोड़ा सारे इलाके में न था। बाबा भारती उसे सुलतान कहकर पुकारते, अपने हाथ से खरहरा करते, खुद दाना खिलाते, और देख-देख कर प्रसन्न होते थे। ऐसी लगन, ऐसे आदर, ऐसे स्नेह से कोई सच्चा प्रेमी अपने साजन को भी न चाहता होगा। उन्होंने अपना सब कुछ छोड़ दिया था—रुपया, माल, असबाब, ज़मीन; यहाँ तक कि उन्हें नागरिक जीवन से भी घृणा थी। अब गाँव से बाहर छोटे-से मन्दिर में रहते और भगवान् का भजन करते थे। परन्तु सुलतान के बिछुड़ने की वेदना उनके लिये असह्य थी। मैं इसके बिना नहीं रह सकूँगा, उन्हें ऐसी

भ्रांति-सी हो गई थी। वह उसकी चाल पर लट्टू थे। कहते, ऐसे चलता है, जैसे मोर घन-घटा को देखकर नाच रहा हो। गाँवों के लोग इस मोहमाया को देखकर चकित थे। कभी-कभी कनखियों से इशारे भी करते थे, परन्तु बाबा भारती को इसकी परवाह न थी। जब तक संध्या-समय सुलतान पर चढ़कर आठ-दस मील का चक्कर न लगा लेते, उन्हें चैन न आती।

खड्गसिंह इस इलाक़े का प्रसिद्ध डाकू था, लोग उसका नाम सुनकर काँपते थे। होते-होते सुलतान की कीर्ति उसके कानों तक भी पहुँची, उसका हृदय उसे देखने के लिए अधीर हो उठा। वह एक दिन दोपहर के समय बाबा भारती के पास पहुँचा और नमस्कार करके बैठ गया।

बाबा भारती ने पूछा—"खड्गसिंह क्या हाल है?" खड्गसिंह ने सिर झुकाकर उत्तर दिया—"आपकी दया है।"

"कहो इधर कैसे आ गये?"

"सुलतान की चाह खींच लाई।"

"विचित्र जानवर है। देखोगे, तो प्रसन्न हो जाओगे।"

"मैंने भी बड़ी प्रशंसा सुनी है।"

"उसकी चाल तुम्हारा मन मोह लेगी।"

"कहते हैं, देखने में भी बड़ा सुन्दर है।"

"क्या कहना; जो उसे एक बार देख लेता है, उसके हृदय पर उसकी छवि अंकित हो जाती है।"

"बहुत दिनों से अभिलाषा थी, आज उपस्थित हो गया हूँ।"

बाबा और खड्गसिंह दोनों अस्तबल में पहुँचे बाबा ने घोड़ा दिखाया घमंड से। खड्गसिंह ने घोड़ा देखा आश्चर्य से। उसने सहस्रों घोड़े देखे थे। परन्तु ऐसा बाँका घोड़ा उसकी आँखों से कभी न गुजरा था। सोचने लगा, भाग्य की बात है। ऐसा घोड़ा खड्गसिंह के पास होना चाहिए था। इस को ऐसी चीजों से क्या मतलब? कुछ देर तक खड्गसिंह आश्चर्य से चुपचाप खड़ा रहा। इसके पश्चात् हृदय उसके में हलचल होने लगी, बालकों की सी अधीरता से बोला—

"परन्तु बाबाजी, इसकी चाल न देखी तो क्या देखा?"

[२]

बाबाजी मनुष्य ही थे। अपनी वस्तु की प्रशंसा दूसरे के मुख से सुनने के लिए उनका हृदय भी अधीर हो गया। घोड़े को खोलकर बाहर लाये और उसकी पीठ पर हाथ फेरने लगे। एकाएक उचककर सवार हो गए, घोड़ा वायु-वेग से उड़ने लगा। उसकी चाल देखकर, उसकी गति देखकर, खड्गसिंह के हृदय पर सांप लोट गया। वह डाकू था। और जो वस्तु पसंद आ जाय, उस पर अपना अधिकार समझता था। उसके पास बाहुबल था, और रुपया था, और आदमी थे। जाते-जाते बोला—"बाबा जी, मैं यह घोड़ा आपके पास न रहने दूँगा।"

बाबा भारती डर गये। अब उन्हें रात को नींद न आती थी। सारी रात अस्तबल की रखवाली में कटने लगी। प्रतिक्षण खड्गसिंह का भय लगा रहता। परन्तु कई मास बीत गए,

वह न आया। यहाँ तक कि बाबा भारती कुछ लापरवाह हो गए और इस भय को स्वप्न के भय की नाईं मिथ्या समझने लगे।

संध्या का समय था। बाबा भारती सुलतान की पीठ पर सवार होकर घूमने जा रहे थे। इस समय उनकी आँखों में चमक थी, मुख पर प्रसन्नता। कभी घोड़े के शरीर को देखते, कभी रंग को और मन में फूले न समाते थे।

सहसा एक आवाज़ आई—"ओ बाबा, इस कंगले की भी बात सुनते जाना।"

आवाज़ में करुणा थी, बाबा ने घोड़े को थाम लिया। देखा, एक अपाहिज पड़ा कराह रहा है। बोले—"क्यों तुम्हें क्या कष्ट है?"

अपाहिज ने हाथ जोड़कर कहा—"बाबा, मैं दुखिया हूँ। मुझ पर दया करो। रामाँवाला यहाँ से तीन मील है; मुझे वहाँ जाना है। घोड़े पर चढ़ा लो, परमात्मा तुम्हारा भला करेगा।

"वहाँ तुम्हारा कौन है?"

"दुर्गादत्त वैद्य का नाम आपने सुना होगा। मैं उनका सौतेला भाई हूँ।"

बाबा भारती ने घोड़े से उतर कर अपाहिज को घोड़े पर किया और स्वयं उसकी लगाम पकड़कर धीरे-धीरे चलने लगे।

सहसा उन्हें एक झटका-सा लगा, और लगाम हाथ से छूट गई। उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उन्होंने देखा कि

अपाहिज घोड़े की पीठ पर तनकर बैठा है और घोड़े को दौड़ाए लिए जा रहा है। उनके मुख से भय, विस्मय और निराशा से मिली हुई चीख निकल गई—यह अपाहिज खड्गसिंह डाकू था।

बाबा भारती कुछ देर तक चुप रहे, और इसके पश्चात् कुछ निश्चय करके पूरे बल से चिल्लाकर बोले—"ज़रा ठहर जाओ।"

खड्गसिंह ने यह आवाज़ सुनकर घोड़ा रोक लिया और उसकी गर्दन पर प्यार से हाथ फेरकर कहा—"बाबाजी, यह घोड़ा अब न दूँगा।"

"परन्तु एक बात सुनते जाओ।"

खड्गसिंह ठहर गया। बाबा भारती ने निकट जाकर उसकी ओर ऐसी आँखों से देखा, जैसे बकरा कसाई को देखता है, और कहा—"यह घोड़ा तुम्हारा हो चुका। मैं तुमसे इसे वापस करने के लिए न कहूँगा, परन्तु खड्गसिंह, केवल एक प्रार्थना करता हूँ, उसे अस्वीकार न करना; नहीं तो मेरा दिल टूट जायगा।"

"बाबाजी, आज्ञा कीजिए। मैं आपका दास हूँ, केवल यह घोड़ा न दूँगा।"

"अब घोड़े का नाम न लो, मैं तुमसे इसके विषय में कुछ न कहूँगा। मेरी प्रार्थना केवल यह है कि इस घटना को किसी के सामने प्रगट न करना।"

खड्गसिंह का मुँह आश्चर्य से खुला रह गया। उसका विचार था कि मुझे इस घोड़े को लेकर यहाँ से भागना पड़ेगा, परन्तु बाबा भारती ने स्वयं उससे कहा कि इस घटना को किसी के सामने प्रगट न करना। इससे क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? खड्गसिंह ने बहुत सोचा, बहुत सिर मारा, परन्तु कुछ समझ न सका। हार कर उसने अपनी आँखें बाबा भारती के मुख पर गाड़ दीं और पूछा—"बाबाजी, इसमें आपको क्या डर है?"

बाबा भारती ने उत्तर दिया—"लोगों को यदि इस घटना का पता लग गया, तो वे किसी गरीब पर विश्वास न करेंगे।"

और यह कहते-कहते उन्होंने सुलतान की ओर से इस तरह मुँह मोड़ लिया, जैसे उनका उससे कभी कोई सम्बन्ध ही न था। बाबा भारती चले गए, परन्तु उनके शब्द खड्गसिंह के कानों में उसी प्रकार गूँज रहे थे। सोचता था, कैसे उच्च विचार हैं? कैसा पवित्र भाव है। उन्हें इस घोड़े से प्रेम था। इसे देखकर उनका मुख फूल की नाईं खिल जाता था। कहते थे इसके बिना मैं रह न सकूँगा। इसकी रखवाली में वह कई रातें सोए नहीं। भजन-भक्ति के बदले रखवाली करते रहे। परन्तु आज उनके मुख पर चिन्ता की रेखा तक न देख पड़ती थी। उन्हें केवल यह ख़याल था कि कहीं लोग गरीबों पर विश्वास करना न छोड़ दें। उन्होंने अपनी निज की हानि को

मनुष्यत्व की हानि पर न्यौछावर कर दिया! ऐसा मनुष्य मनुष्य नहीं देवता है!

(३)

रात्रि के अन्धकार में खड्गसिंह बाबा भारती के मन्दिर में पहुँचा। चारों ओर सन्नाटा था। आकाश पर तारे टिमटिमा रहे थे। थोड़ी दूर पर गाँवों के कुत्ते भौंकते थे। मन्दिर के अन्दर कोई शब्द सुनाई न देता था। खड्गसिंह सुलतान की बाग पकड़े हुए था। वह धीरे-धीरे अस्तबल के फाटक पर पहुँचा। फाटक किसी वियोगी की आँखों की तरह चौपट खुला था। किसी समय वहाँ बाबा भारती स्वयं लाठी लेकर पहरा देते थे। परन्तु आज उन्हें किसी चोरी, किसी डाके का भय न था। हानि ने हानि की ओर से बेपरवा कर दिया था। खड्गसिंह ने आगे बढ़कर सुलतान को उसके स्थान पर बाँध दिया और बाहर निकल कर सावधानी से फाटक बन्द कर दिया। इस समय उसकी आँखों में पश्चात्ताप के आँसू थे।

अंधकार में रात्रि ने तीसरा पहर समाप्त किया, और चौथा पहर आरम्भ होते ही बाबा भारती ने अपनी कुटिया से बाहर निकल ठण्डे जल से स्नान किया। इसके पश्चात् इस प्रकार जैसे कोई स्वप्न चल रहा हो, उनके पाँव अस्तबल की ओर मुड़े। परन्तु फाटक पर पहुँच कर उनको अपनी भूल प्रतीत हुई, साथ घोर निराशा ने पाँवों को मन-मन-भर का भारी बना दिया। वह वहीं रुक गए।

घोड़े ने स्वाभाविक मेधा से अपने स्वामी के पाँवों की चाप को पहचान लिया, और जोर से हिनहिनाया।

बाबा भारती दौड़ते हुए अन्दर घुसे और अपने घोड़े के गले से लिपटकर इस प्रकार रोने लगे, जैसे बिछुड़ा हुआ पिता चिर-काल के पश्चात् पुत्र से मिलकर रोता है। बार-बार उसकी पीठ पर हाथ फेरते थे—बार-बार उसके मुँह पर थपकियाँ देते थे और कहते थे—अब कोई गरीबों की सहायता से मुँह न मोड़ेगा।

थोड़ी देर के बाद जब वह अस्तबल से बाहर निकले, तो उनकी आँखों से आँसू बह रहे थे! ये आँसू उसी भूमि पर ठीक उसी जगह गिर रहे थे, जहाँ बाहर निकलने के बाद खड्गसिंह खड़ा होकर रोया था। दोनों के आँसुओं का उस भूमि की मिट्टी पर परस्पर मेल हो गया।

: पाँच :

पूस की रात

(श्री प्रेमचन्द)

हल्कू ने आकर स्त्री से कहा—सहना आया है, लाओ, जो रुपये रखे हैं उसे दे दूँ, किसी तरह गला तो छूटे।

मुन्नी झाड़ू लगा रही थी। पीछे फिर कर बोली—तीन ही तो रुपये हैं, दे दोगे तो कम्मल कहाँ से आयेगा ? माघ-पूस की रात हार में कैसे कटेगी ? उससे कहदो, फसल पर रुपये दे देंगे। अभी नहीं हैं।

हल्कू एक क्षण अनिश्चित दशा में खड़ा रहा। पूस सिर पर आ गया, विना कम्बल के हार में रात को वह किसी तरह नहीं सो सकता। मगर सहना मानेगा नहीं, घुड़कियाँ जमावेगा; गालियाँ देगा। वला से जाड़ों मरेंगे, वला तो सर से टल जायगी। यह सोचता हुआ वह अपना भारी भरकम डील लिये हुए (जो उसके नाम को झूठ सिद्ध करता था) स्त्री के समीप गया और खुशामद करके बोला—ला, दे दे, गला तो छूटे। कम्मल के लिए कोई दूसरा उपाय सोचूँगा।

मुन्नी उसके पास से दूर हट गई और आँखें तेरती बोली—कर चुके दूसरा उपाय ! जरा सुनूँ कौन उपाय करोगे ? कोई खैरात दे देगा कम्बल ? न जाने कितनी वाकी है जो किसी तरह

चुकने ही नहीं आती। मैं कहती हूँ, तुम क्यों नहीं खेती छोड़ देते ? मर मर काम करो, उपज हो तो बाकी दे दो, चलो छुट्टी। बाकी चुकाने के लिए ही तो हमारा जन्म हुआ है। पेट के लिए मजूरी करो। ऐसी खेती से बाज आए। मैं रुपये न दूँगी,—न दूँगी।

हल्कू उदास होकर बोला—तो क्या गाली खाऊँ ?

मुन्नी ने तड़प कर कहा—गाली क्यों देगा, क्या उसका राज है ?

मगर यह कहने के साथ ही उसकी तनी हुई भौहें ढीली पड़ गईं। हल्कू के उस वाक्य में जो कठोर सत्य था, वह मानों एक भीषण जन्तु की भाँति उसे घूर रहा था।

उसने जाकर आले पर से रुपए निकाले और लाकर हल्कू के हाथ पर रख दिए। फिर बोली—तुम छोड़ दो अबकी से खेती। मजूरी में सुख से एक रोटी खाने को तो मिलेगी। किसी की धौंस तो न रहेगी। अच्छी खेती है ! मजूरी करके लाओ, वह भी उसी में झोंक दो, उस पर से धौंस।

हल्कू ने रुपये लिये और इस तरह बाहर चला मानो अपना हृदय निकालकर देने जा रहा हो। उसने मजूरी से काट-काट कर तीन रुपये कम्बल के लिए जमा किये थे। वह आज निकले जा रहे थे। एक एक पग के साथ उसका मस्तक अपनी दीनता के भार से दबा जा रहा था।

२

पूस की अँधेरी रात ! आकाश पर तारे भी ठिठुरते हुए

मालूम होते थे। हल्कू अपने खेत के किनारे ऊख के पत्तों की एक छतरी के नीचे बाँस के खटोले पर अपनी पुरानी गाढ़े की चादर ओढ़े पड़ा काँप रहा था। खाट के नीचे उसका संगी कुत्ता जबरा पेट में मुँह डाले सर्दी से कूं-कूं कर रहा था। दो में से एकको भी नींद न आती थी।

हल्कू ने घुटनियों को गर्दन में चिमटाते हुए कहा—क्यों जबरा, जाड़ा लगता है? कहता तो था, घर में पुआल पर लेटा रह, तो यहाँ क्या लेने आया था? अब खाओ ठण्ड, मैं क्या करूँ। जानते थे, मैं यहाँ हलुवा पूरी खाने आ रहा हूँ, दौड़े-दौड़े आगे-आगे चले आए। अब रोओ नानी के नाम को।

जबरे ने पड़े-पड़े दुम हिलाई और अपनी वह कूँ-कूँ को दीर्घ बनाता हुआ एक बार जम्हाई लेकर चुप हो गया। उसकी श्वान-बुद्धि ने शायद ताड़ लिया, स्वामी को मेरी कूँ-कूँ से नींद नहीं आ रही है।

हल्कू ने हाथ निकाल कर जबरा की ठण्डी पीठ सहलाते हुए कहा—कल से मत आना मेरे साथ, नहीं तो ठण्डे हो जाओगे। यह रांड पछुआ न जाने कहाँ से बरफ लिए आ रही है। उठूँ, फिर एक चिलम भरूँ। किसी तरह रात तो कटे। आठ चिलम तो पी चुका। यह खेती का मजा है। और एक भागवान ऐसे पड़े हैं, जिनके पास जाड़ा जाय तो गर्मी से घबड़ा कर भागे। मोटे-मोटे गद्दे, लिहाफ कम्बल। मजाल है जो जाड़े

का गुजर हो जाय। तकदीर की खूबी है। मजूरी हम करें, मजा दूसरे लूटें!

हल्कू उठा और गड्ढे में से ज़रा-सी आग निकाल कर चिलम भरी। जबरा भी उठ बैठा।

हल्कू ने चिलम पीते हुए कहा—पिएगा चिलम? जाड़ा तो क्या जाता है, हाँ जरा मन बहल जाता है।

जबरा ने उसके मुँह की ओर प्रेम से छलकती हुई आँखों से देखा।

हल्कू—आज और जाड़ा खा ले। कल से मैं यहाँ पुआल बिछा दूँगा। उसी में घुस कर बैठना, तब जाड़ा न लगेगा।

जबरा ने अगले पंजे उसके घुटने पर रख दिये और उसके मुँह के पास अपना मुँह ले गया। हल्कू को उसकी गर्म साँस लगी।

चिलम पीकर हल्कू फिर लेटा और निश्चय करके लेटा कि चाहे कुछ हो अबकी सो जाऊँगा, पर एक ही क्षण में उसके हृदय में कंपन होने लगा। कभी इस करवट लेटता, कभी उस करवट, पर जाड़ा किसी पिशाच की भांति उसकी छाती को दबाए हुए था।

जब किसी तरह न रहा गया, तो उसने जबरा को धीरे से उठाया और उसके सिर को थपथपा कर उसे अपनी गोद में सुला लिया। कुत्ते की देह से जाने कैसी दुर्गन्ध आ रही थी, पर

वह उसे अपनी गोद से चिपटाये हुए ऐसे सुख का अनुभव कर रहा था, जो इधर महीने से उसे न मिला था। जबरा शायद यह समझ रहा था कि स्वर्ग यही है, हल्कू की पवित्र आत्मा में तो इस कुत्ते के प्रति-घृणा की गन्ध तक न थी। अपने किसी अभिन्न मित्र या भाई को भी वह इतनी ही तत्परता से गले लगता। वह अपनी दीनता से आहत न था जिसने आज उसे इस दशा को पहुँचा दिया था। नहीं इस अनोखी मैत्री ने जैसे उसकी आत्मा के सब द्वार खोल दिये थे। और उसका एक एक अणु प्रकाश से चमक रहा था।

सहसा जबरा ने किसी जानवर की आहट पाई। इस विशेष आत्मीयता ने उसमें एक नयी स्फूर्ति पैदा कर दी थी जो हवा के ठण्डे झोंकों को तुच्छ समझती थी। वह झपट कर उठा और छतरी के बाहर आकर भूँकने लगा। हल्कू ने उसे कई बार चुमकार कर बुलाया, पर वह उसके पास न आया। हार में चारों तरफ़ दौड़-दौड़ कर भूँकता रहा। एक क्षण के लिए आ भी जाता, तो तुरंत फिर दौड़ता। कर्तव्य उसके हृदय में अरमान की भाँति उछल रहा था।

२

एक घण्टा और गुज़र गया। रात ने शीत को हवा से धधकाना शुरू किया। हल्कू उठ बैठा और उसने दोनों घुटनों को छाती से मिला कर सिर को उसमें छिपा लिया। फिर भी ठण्ड कम न हुई। ऐसा जान पड़ता था, सारा रक्त जम गया है धम-

नियों में रक्त की जगह हिम वह रहा है। उसने झुक कर आकाश की ओर देखा, अभी कितनी रात बाकी है? सप्तर्षि आकाश में अभी आधे भी नहीं चढ़े। ऊपर आ जायेंगे तब कहीं सवेरा होगा। अभी पहर भर से ऊपर रात है।

हल्कू के खेत से कोई एक गोली के टप्पे पर आमों का एक बाग़ था। पतझड़ शुरू हो गई थी। बाग़ में पत्तियों का ढेर लगा हुआ था। हल्कू ने सोचा, चलकर पत्तियाँ बटोरूँ और उन्हें जलाकर खूब तापूँ। रात को कोई मुझे पत्तियाँ बटोरते देखे, तो समझे कोई भूत है। कौन जाने कोई जानवर ही छिपा बैठा हो, मगर अब तो बैठे नहीं रहा जाता।

उसने पास के अरहर के खेत में जाकर कई पौधे उखाड़ लिए और उनका एक झाड़ू बनाकर हाथ में सुलगता हुआ उपला लिये बगीचे की तरफ़ चला। जबरा ने उसे जाते देखा, तो पास आया और दुम हिलाने लगा।

हल्कू ने कहा—अब तो नहीं रहा जाता जबरू, चलो बगीचे में पत्तियाँ बटोर कर तापें। टाँठे हो जायेंगे, तो फिर आकर सोयेंगे। अभी तो रात बहुत है।

जबरा ने कूँ कूँ करके सहमति प्रकट की और आगे-आगे बगीचे की ओर चला। बगीचे में घुप-अंधेरा छाया हुआ था और उस अंधकार में निर्दय पवन पत्तियों को कुचलता हुआ चला जाता था। वृक्षों से ओस की बूँदें टप-टप नीचे टपक रही थीं।

एकाएक एक झोंका मेंहदी के फूलों की खुशबू लिये हुए आया।

हल्कू ने कहा—कैसी अच्छी महक आई जबरू, तुम्हारी नाक में भी कुछ सुगन्ध आ रही है?

जबरा को कहीं जमीन पर एक हड्डी पड़ी मिल गई थी। वह उसे चिचोड़ रहा था। हल्कू ने आग जमीन पर रख दी और पत्तियाँ बटोरने लगा। ज़रा देर में पत्तियों का एक ढेर लग गया हाथ ठिठुरे जाते थे। नंगे पांव गले जाते थे और वह पत्तियों का पहाड़ खड़ा कर रहा था। इसी अलाव में वह ठण्ड को जलाकर भस्म कर देगा।

थोड़ी देर में अलाव जल उठा। उसकी लौ ऊपर वाले वृक्ष की पत्तियों को छू-छू कर भागने लगी। उस अस्थिर प्रकाश में बगीचे के विशाल वृक्ष ऐसे मालूम होते थे, मानो उस अथाह अन्धकार को अपने सिरों पर संभाले हुए हों। अन्धकार के उस अनन्त सागर में यह प्रकाश एक नौका के समान हिलता, मचलता हुआ जान पड़ता था।

हल्कू अलाव के सामने बैठा आग ताप रहा था। एक क्षण में उसने दोहर उतार कर बगल में दबा ली, और दोनों पाँव फैला लिए। मानो ठंड को ललकार रहा हो, 'तेरे जी में जो आये सो कर।' ठंड की असीम शक्ति पर विजय पाकर वह विजय-गर्व को हृदय में छिपा न सकता था।

उसने जबरा से कहा—क्यों जब्बर, अब तो ठंड नहीं लग रही है ?

जब्बर ने कूँ कूँ करके मानो कहा—अब क्या ठंड लगती ही रहेगी !

'पहले से यह उपाय न सूझा, नहीं तो इतनी ठंड क्यों खाते ?'

जबर ने पूँछ हिलाई।

"अच्छा आओ, इस अलाव को कूद कर पार करें, देखें कौन निकल जाता है ? अगर जल गये बचा, तो मैं दवा न करूँगा।"

जब्बर ने उस अग्नि-राशि की ओर कातर नेत्रों से देखा।

"मुन्नी से कल न कह देना, नहीं लड़ाई करेगी।"

यह कहता हुआ वह उछला और उस अलाव के ऊपर से साफ़ निकल गया। पैरों में ज़रा लपट लगी, पर वह कोई बात न थी। जबरा आग के गिर्द घूमकर उसके पास आ खड़ा हुआ।

हल्कू ने कहा—चलो चलो, इसकी सही नहीं ऊपर से कूदकर आओ।

वह फिर कूदा और अलाव के इस पार आ गया।

४

पत्तियाँ जल चुकी थीं। बगीचे में फिर अंधेरा छाया था। राख के नीचे कुछ कुछ आग बाकी थी, जो हवा का झोंका आ जाने पर ज़रा जाग उठती थी, पर एक क्षण में फिर आँखें बन्द कर लेती थी।

हल्कू ने सिर चादर ओढ़ ली और गर्म राख के पास बैठा हुआ एक गीत गुनगुनाने लगा। उसके बदन में गर्मी आ

गई थी; पर ज्यों-ज्यों शीत बढ़ती जाती थी, उसे आलस्य दबाये लेता था।

जबरा जोर से भूँककर खेत की ओर भागा। हल्कू को ऐसा मालूम हो रहा था कि जानवरों का एक झुण्ड उसके खेत में आया है। शायद नील गायों का झुण्ड था। उनके कूदने और दौड़ने की आवाजें साफ़ कान में आ रही थीं। फिर ऐसा मालूम हुआ कि वह खेत में चर रही हैं। उनके चबाने की आवाज़ चर-चर सुनाई देने लगी।

उसने दिल में कहा—नहीं, जबरा के होते कोई जानवर खेत में नहीं आ सकता। नोच ही डाले। मुझे भ्रम हो रहा है। कहाँ अब तो कुछ सुनाई नहीं देता। मुझे भी कैसा धोखा हुआ है।

उसने जोर से आवाज़ लगाई—जबरा, जबरा !

जबरा भूँकता रहा। उसके पास न आया।

फिर खेत के चरे जाने की आवाज़ सुनाई दी। अब वह अपने को धोखा न दे सका। उसे अपनी जगह से हिलना ज़हर लग रहा था। कैसा दंदाया हुआ बैठा था। ऐसे जाड़े-पाले में खेत में जाना, जानवरों के पीछे दौड़ना असूझ जान पड़ा। वह अपनी जगह से न हिला।

उसने जोर से आवाज़ लगाई—लिहो लिहो! लिहो!!

जबरा फिर भूँक उठा। जानवर खेत चर रहे थे। फ़सल तैयार है। कैसी अच्छी फ़सल है, पर ये दुष्ट जानवर उसका सर्वनाश किये डालते हैं।

हल्कू पक्का इरादा करके उठा और दो-तीन कदम चला; पर एकाएक हवा का ऐसा ठण्डा चुभने वाला, बिच्छू के डंक-सा झोंका लगा कि वह फिर बुझते हुए अलाव के पास आ बैठा और राख को कुरेद कर अपनी ठण्डी देह को गर्माने लगा।

जबरा अपना गला फाड़े डालता था। नील गाएँ खेत का सफाया किये डालती थीं और हल्कू गर्म राख के पास शाँत बैठा हुआ था। अकर्मण्यता ने रस्सियों की भाँति उसे चारों ओर से जकड़ रखा था।

उसी राख के पास गर्म जमीन पर वह चादर ओढ़कर सो गया।

सवेरे जब उसकी नींद खुली तब चारों तरफ धूप फैल गई थी और मुन्नी कह रही थी—आज क्या सोते ही रहोगे? तुम यहाँ आकर रम गए और उधर सारा खेत चौपट हो गया।

हल्कू ने उठकर कहा—क्या तू खेत से होकर आ रही है?

मुन्नी बोली—हाँ सारे खेत का सत्यानाश हो गया। भला ऐसा भी कोई सोता है? तुम्हारे यहाँ मड़ैया डालने से क्या हुआ?

हल्कू ने बहाना किया—मैं मरते-मरते बचा, तुझे अपने खेत की पड़ी है। पेट में ऐसा दर्द हुआ कि मैं ही जानता हूँ।

दोनों फिर खेत के डाँड पर आये। देखा, सारा खेत रौंदा हुआ पड़ा है और जबरा मड़ैया के नीचे चित लेटा है, मानो प्राण ही न हों।

दोनों खेत की दशा देख रहे थे। मुन्नी के मुख पर उदासी थी पर हल्कू प्रसन्न था।

मुन्नी ने चिन्तित होकर कहा—अब मजूरी करके मालगुजारी भरनी पड़ेगी।

हल्कू ने प्रसन्न मुख से कहा—रात की ठण्ड में यहाँ सोना तो न पड़ेगा।

: छः :

देवदासी

(ले० श्री जयशङ्कर 'प्रसाद')

'......'

१-३-२५

प्रिय रमेश !

परदेश में किसी अपने से घर लौट आने का अनुरोध बड़ी सान्त्वना देता है, परन्तु अब तुम्हारा मुझे बुलाना एक अभिनय-सा है। हाँ, मैं कटूक्ति करता हूँ, जानते हो क्यों? मैं झगड़ना चाहता हूँ; क्योंकि संसार में अब मेरा कोई नहीं है, मैं उपेक्षित हूँ। सहसा अपने का सा स्वर सुनकर मन में क्षोभ होता है। अब मेरा घर लौट कर आना अनिश्चित है। मैंने '........' के हिन्दी-प्रचार-कार्यालय में नौकरी कर ली है। तुम तो जानते ही हो कि मेरे लिए प्रयाग और '......' बराबर है। अब अशोक विदेश में भूखा न रहेगा। मैं पुस्तक बेचता हूँ।

यह तुम्हारा लिखना ठीक है कि एक आने का टिकट लगाकर पत्र भेजना मुझे अखरता है, पर तुम्हारे गाल यदि मेरे समीप होते तो उन पर पाँचों नहीं तो मेरी तीन उँगलियाँ अपना

चिह्न अवश्य बना ही देतीं। तुम्हारा इतना साहस ! मुझे लिखते हो कि बेयरिङ्ग पत्र भेज दिया करो ! ये सब गुण मुझमें होने तो मैं भी तुम्हारी तरह......प्रेस के प्रूफ़-रीडर का काम करता होता। सावधान ! अब कभी ऐसा लिखोगे तो मैं उत्तर भी न दूँगा।

लल्लू को मेरी ओर से प्यार कर लेना, उससे कह देना कि पेट से बचा सकूँगा, तो एक रेलगाड़ी भेजूँगा।

यद्यपि अपनी यात्रा का समाचार बराबर लिखकर मैं तुम्हारा मनोरञ्जन न कर सकूँगा, तो भी सुन लो '......' में एक बड़ा पर्व है, वहाँ '......' का देव-मन्दिर बड़ा प्रसिद्ध है। तुम तो जानते होगे कि दक्षिण में कैसे-कैसे दर्शनीय देवालय हैं, उनमें भी यह प्रधान है। मैं वहाँ कार्यालय की पुस्तकें बेचने के लिए जा रहा हूँ।

तुम्हारा,
—अशोक

पुनश्चः—
मुझे विश्वास है कि मेरा पता जानने के लिए कोई उत्सुक न होगा। फिर भी सावधान ! किसी पर प्रकट न करना।

❀ ❀ ❀

(२)

'......'

१०-३-२५

प्रिय रमेश !

रहा नहीं गया, लो सुनो ! मन्दिर देखकर हृदय प्रसन्न हो

गया। ऊँचा गोपुरम्, सुदृढ़ प्राचीर, चौड़ी परिक्रमाएं और विशाल सभा-मण्डप भारतीय स्थापत्य कला के चूड़ान्त निदर्शन हैं। यह देव-मन्दिर हृदय पर गम्भीर प्रभाव डालता है। हम जानते हैं कि तुम्हारे मन में यहाँ के पण्डों के लिए प्रश्न होगा। फिर भी उत्तरीय भारत से ये बुरे नहीं हैं। पूजा और आरती के समय एक प्रभावशाली वातावरण हृदय को भारावनत कर देता है।

मैं कभी-कभी एकटक देखता हूँ। उन मन्दिरों को ही नहीं, किन्तु उस प्राचीन भारतीय संस्कृति को, जो सर्वोच्च शक्ति को अपनी महत्ता, सौंदर्य और ऐश्वर्य के द्वारा व्यक्त करना जानती थी। तुमसे कहूँगा कि कभी रुपए जुटा सको तो एक बार दक्षिण के मन्दिरों को अवश्य देखना। देव-दर्शन की कला यहाँ देखने में आती है। एक बात और है, मैं अभी बहुत दिनों तक यहाँ रहूँगा। मैं यहाँ की भाषा भली-भांति बोल लेता हूँ। मुझे परिक्रमा के भीतर ही एक कोठरी संयोग से मिल गई है। पास में ही एक कुआँ भी है! मुझे प्रसाद भी मन्दिर से ही मिलता है। मैं बड़े चैन से हूँ। यहाँ पुस्तकें बेच भी लेता हूँ।। सुन्दर चित्रों के लिए पुस्तकों की अच्छी बिक्री हो जाती है। गोपुरम् के पास ही मैं दूकान फैला देता हूँ। और महिलाएं मुझसे पुस्तकों का विवरण पूछती हैं। मुझे समझाने में बड़ा आनन्द आता है। पास ही बड़े सुन्दर-सुन्दर दृश्य हैं। नदी, पहाड़ और जङ्गल—सभी तो हैं। मैं कभी-कभी घूमने भी चला जाता हूँ। परन्तु उत्तरीय भारत के समान यहाँ के देव-विग्रहों के समीप हम लोग

नहीं जा सकते। दूर से ही दीपालोक में उस अचल मूर्ति की झाँकी हो जाती है। यहाँ मन्दिरों में सङ्गीत और नृत्य का भी आनन्द रहता है। बड़ी चहल-पहल है। आजकल तो यात्रियों के कारण और भी सुन्दर-सुन्दर प्रदर्शन होते हैं।

तुम जानते हो कि मैं अपना पत्र इतना सविस्तार क्यों लिख रहा हूँ? तुम्हारे कृपण और सङ्कुचित हृदय में उत्कण्ठा बढ़ाने के लिए। मुझे इतना ही सुख सही।

तुम्हारा,
—अशोक

❀ ❀ ❀

(३)

'........'
१७-३-२५

प्रिय रमेश!

समय को उलाहना देने की प्राचीन प्रथा को मैं अच्छी नहीं समझता। इसलिए जब वह शुष्क मांस-पेशी अलग दिखलाने वाला, चौड़ी हड्डियों का अपना शरीर लठिया के बल पर टेकता हुआ, चिदम्बरम् नाम का पण्डा मेरे समीप बैठकर, अपनी भाषा में उपदेश देने लगता है, तो मैं घबरा जाता हूँ। वह समय का एक दुर्दश्य चित्र खींचकर, अभाव और आपदाओं का उल्लेख करके विभीषिका उत्पन्न करता है। मैं उनसे मुक्त हूँ। भोजन-मात्र के लिए अर्जन करके सन्तुष्ट घूमता हूँ—सोता हूं!

मुझे समय की क्या चिन्ता? पर मैं यह जानता हूँ कि वही मेरा सहायक है—मित्र है। इतनी आत्मीयता दिखलाता है कि मैं उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। अहा! एक बात तो लिखना मैं भूल ही गया था। उसे अवश्य लिखूँगा, क्योंकि तुम्हारे सुने बिना मेरा सुख अधूरा रहेगा। मेरे सुख को मैं ही जानूं, तब उसमें धरा ही क्या है, जब तुम्हें उसकी डाह न हो तो सुनो:—

सभा मण्डप के शिल्प-रचनापूर्ण स्तम्भ से टिकी हुई एक उज्ज्वल श्याम वर्ण की बालिका को अपनी पतली बाहु-लता से एक घुटने को छाती से लगाए प्रायः बैठी हुई देखता हूँ। स्वर्ण-मल्लिका की माला उसके जूड़े से लगी रहती है। प्रायः वह कुसुमाभरण-भूषिता रहती है। उसे देखने का मुझे चस्का लग गया है। वह मुझसे हिन्दी सीखना चाहती है। मैं तुम से पूछता हूँ कि उसे पढ़ाना आरम्भ कर दूँ? उसका नाम है पद्मा, चिदम्बरम् और पद्मा से खूब पटती है। वह हिरनी की तरह झिझकती भी है। पर न जाने क्यों मेरे पास आ बैठती है, मेरी पुस्तकें उलट-पलट देती है। मेरी बातें सुनते-सुनते वह ऐसी हो जाती है, जैसे कोई आलाप ले रही हो, और मैं प्रायः आधी बात कहते-कहते रुक जाता हूँ, जैसे कोई संगीत सुन रहा हूँ। इसका अनुभव मुझे तब होता है, जब मेरे दृष्टि-पथ से वह हट जाती है। उसे देखकर मेरे हृदय में कविता करने की इच्छा होती है, यह क्यों? मेरे हृदय का सोता हुआ सौंदर्य जाग उठता है।

तुम मुझे नीच समझोगे और कहोगे कि अभागे अशोक के दरिद्र-हृदय की स्पर्द्धा तो देखो ! पर मैं सच कहता हूँ, उसे देखने पर मैं अनन्त ऐश्वर्यशाली हो जाता हूँ।

हाँ, वह मन्दिर में नाचती और गाती है। और भी बहुत-सी हैं, पर मैं कहूंगा, वैसी एक भी नहीं। जो लोग उसे देवदासी पद्मा कहते हैं, वे अधम हैं। वह देवबाला पद्मा है।

वही,

—अशोक

❀ ❀ ❀

(४)

'.........'

२८-३-२५

प्रिय रमेश !

तुम्हारा उलहना निस्सार है। मैं इस समय केवल पद्मा को समझ सकता हूँ। फिर अपने या तुम्हारे कुशल-मंगल की चर्चा क्यों करूँ ? तुम उसका रूप-सौन्दर्य पूछते हो। मैं उसका विवरण देने में असमर्थ हूँ। हृदय में उपमाएँ नाचकर चली जाती हैं, ठहरने नहीं पातीं कि मैं उन्हें लिपिबद्ध करूँ। वह एक ज्योति है, जो अपनी महत्ता और आलोक में अपना अवयव छिपाए रखती है, केवल तरल, नील, शुभ्र और करुण आँखें मेरी आँखों से मिल जाती हैं। मेरी आँखों में श्यामा कादम्बिनी की शीतलता छा जाती है, और संसार के अत्याचारों से

निराश इस झंझरीदार कलेजे के वातायन से वह स्निग्ध मलयानिल के झोंके की तरह घुस आती है। एक दिन की घटना लिखे बिना नहीं रहा जाता।

मैं अपनी पुस्तकों की दूकान फैलाए बैठा था! गोपुरम् के समीप ही वह कहीं से झपटी हुई चली आती थी। दूसरी ओर से एक युवक उसके सामने आ खड़ा हुआ। वह युवक मन्दिर का कृपा-भाजन एक धनी दर्शनार्थी था। यह बात उसके कानों के चमकते हुए हीरे के टैप से प्रकट थी। वह बेरोक-टोक मन्दिर में चाहे जहाँ आता-जाता है। मन्दिर में उससे लोगों को प्राय: कुछ मिलता है। सब उसका सम्मान करते हैं। उसे सामने देख कर पद्मा को खड़ा होना पड़ा। उसने बड़ी नीच मुखाकृति से कुछ बातें कहीं, पद्मा कुछ न बोली। फिर उसने स्पष्ट शब्दों में रात्रि को अपने मिलने का स्थान निर्देश किया। पद्मा ने कहा—'मैं नहीं आ सकूंगी'। वह लाल-पीला होकर बकने लगा। मेरे मन में क्रोध का धक्का लगा। मैं उठकर चला आया। वह मुझे देखकर हटा तो, पर कहता गया कि 'अच्छा देख लूंगा'।

उस नील कमल से मकरन्द-बिन्दु टपक रहे थे! मेरी इच्छा हुई कि वे मोती बटोर लूँ। पहली बार मैंने उन कपोलों पर हाथ लगाकर उन्हें लेना चाहा। आह! उन्होंने वर्षा कर दी। मैंने पूछा—उससे तुम इतनी भयभीत क्यों हो?

"मन्दिर में दर्शन करने वालों का मनोरंजन करना मेरा कर्त्तव्य है। मैं देवदासी हूँ।"—उसने कहा।

"यह तो बड़ा अत्याचार है। तुम क्यों यहाँ रह कर अपने को अपमानित करती हो।" मैंने कहा।

"कहाँ जाऊँ, मैं देवता के लिए उत्सर्ग कर दी गई हूँ।"—उसने कहा।

"नहीं-नहीं, देवता तो क्या, राक्षस भी मानव स्वभाव की बलि नहीं लेता, वह तो रक्त-माँस से ही सन्तुष्ट हो जाता है। तुम अपनी आत्मा और अन्तःकरण की बलि क्यों करती हो?" मैंने कहा।

"ऐसा न कहो, पाप होगा; देवता रुष्ट होंगे"—उसने कहा।

"पापों को देवता खोजें, मनुष्य के पास कुछ पुण्य भी है पद्मा! तुम उसे क्यों नहीं खोजती हो? पापों का न करना ही पुण्य नहीं? तुम अपनी आत्मा की अधिकारिणी हो, अपने हृदय की तथा शरीर की सम्पूर्ण स्वामिनी हो, मत डरो। मैं कहता हूँ कि इससे देवता प्रसन्न होंगे। आशीर्वादों की वर्षा होगी।" मैंने एक साँस में कहकर देखा कि उसके मस्तिक में उज्वलता आ गई है। वह एक स्फूर्ति का अनुभव करने लगी है। उसने कहा—अच्छा, तो फिर मिलूँगी।

वह चली गई। मैंने देखा कि बूढ़ा चिदम्बरम् मेरे पीछे खड़ा मुस्करा रहा है। मुझे क्रोध भी आया, पर कुछ न बोल कर, मैंने पुस्तक बटोरना आरम्भ किया।

तुम कुल अपनी सम्मति दोगे?

—अशोक

❀ ❀ ❀

(५)

' '

....
१-४-२५

रमेश !

कल संगीत हो रहा था। मन्दिर आलोक-माला से सुसज्जित था। नृत्य करती हुई पद्मा गा रही थी:—

"नाम समेतं धृत संकेतं वादयते मृदु वेणु"....ओह! वे संकेत मदिरा की लहरें थीं। मैं उनमें उभचुभ होने लगा। उस की कुसुम-आभूषण से भूषित अङ्ग-लता के सञ्चालन से वायु-मंडल सौरभ से भर जाता था। वह विवश थी, जैसे कुसुमिता लता तीव्र पवन के झोंके से। रागों के स्वर का स्पन्दन उसके अभिनय में था। लोग उसे विस्मय-विमुग्ध देखते थे। पर न जाने क्यों मेरे मन में उद्वेग हुआ, मैं जाकर अपनी कोठरी में पड़ रहा। आज कार्यालय से लौट आने के लिए पत्र आया था। उसी को विचारता हुआ कब तक आँखें बन्द किए पड़ा रहा, मुझे विदित नहीं। सहसा साँय-साँय, फस-फस का शब्द सुनाई पड़ा, मैं ध्यान लगाकर सुनने लगा।

ध्यान देने पर मैं जान गया कि दो व्यक्ति बातें कर रहे थे— चिदम्बरम् और रामस्वामी नाम का वही धनी युवक। मैं मनो-योग से सुनने लगा।

चिदम्बरम्—तुमने आज तक उसकी इच्छा के विरुद्ध बड़े

अत्याचार किए हैं, अब जब वह नहीं चाहती तो तुम उसे क्यों सताते हो ?

रामस्वामी—सुनो चिदम्बरम्, सुन्दरियों की कमी नहीं, पर न जाने क्यों मेरा हृदय उसे छोड़कर दूसरी ओर नहीं जाता। वह इतनी निरीह है कि उसे मसलने में आनन्द आता है । एक वार उससे कह दो कि मेरी बातें सुन ले, फिर जो चाहे, करे।

चिदम्बरम् चला गया और बातें बन्द हुईं। और सच कहता हूँ, मन्दिर से मेरा मन प्रतिकूल होने लगा। पैरों के शब्द हुये, वही जैसे रोती हुई बोली—'रामस्वामी, मुझ पर दया न करोगे ?' ओह ! कितनी वेदना थी उसके शब्दों में। परन्तु राम-स्वामी के हृदय में तीव्र ज्वाला जल रही थी। उसके वाक्यों में लू जैसी झुलस थी। उसने कहा—पद्मा ! यदि तुम मेरे हृदय की ज्वाला समझ सकती तो तुम ऐसा न कहतीं। मेरे हृदय की तुम अधिष्ठात्री हो, तुम्हारे बिना मैं जी नहीं सकता। चलो, मैं देवता का कोप सहने के लिये प्रस्तुत हूँ, मैं तुम्हें लेकर कहीं चला चलूँगा।

"देवता का निर्माल्य तुमने दूषित कर दिया है, पहले इसका तो प्रायश्चित्त करो। मुझे केवल देवता के चरणों में मुरझाए हुए फूल के समान गिर जाने दो। रामस्वामी, ऐसा स्मरण होता है कि मैं भी तुम्हें चाहने लगी थी। उस समय मेरे मन में यह विश्वास था कि देवता यदि पत्थर के न होंगे तो समझेंगे कि यह मेरे माँसल यौवन और रक्तपूर्ण हृदय की साधारण

आवश्यकता है। मुझे क्षमा कर देंगे, परन्तु मैं यदि वैसा पुण्य परिणय कर सकती! आह! तुम इस तपस्वी की कुटी के समान हृदय में इतना सौंदर्य लेकर क्यों अतिथि हुए? राम स्वामी, तुम मेरे दुःखों के मेघ में वज्रपात थे!"

पद्मा रो रही थी! सन्नाटा हो गया। सहसा जाते-जाते राम-स्वामी ने कहा—'मैं तुम्हारे बिना नहीं रह सकता।' रमेश! मैं भी पद्मा के बिना नहीं रह सकता। मैंने भी कार्यालय में त्याग-पत्र भेज दिया है। भूखों मरूंगा पर उपाय क्या है?

—अभागा अशोक

* * *

(६)

' ,

....

२-४-२५

रमेश!

मैं बड़ा विचलित हो रहा हूँ। एक कराल छाया मेरे जीवन पर पड़ रही है! अदृष्ट मुझे अज्ञात-पथ पर खींच रहा है, परन्तु तुमको लिखे बिना रह नहीं सकता।

मधुमास, जंगली फूलों की भीनी-भीनी महक सरिता के कूल की शैल-माला को आलिङ्गन दे रही थी। मक्खियों की भन्नाहट का कल-नाद गुञ्जरित हो रहा था। नवीन पल्लवों के कोमल स्पर्श से वनस्थली पुलकित थी। मैं जंगली जूही चमेली के कुञ्ज-

त्रिम कुँज के अन्तराल में बैठा, नीचे बहती हुई नदी के जल के साथ बसन्त की धूप का खेल देख रहा था। हृदय में आशा थी! अहा! वह अपने तुहिनी-जाल से रत्नाकर के सब रत्नों को, आकाश के सब मुक्ताओं को निकाल, खींचकर मेरे चरणों में उभज़ देती थी। प्रभात की पीली किरणों से हेम-गिरि को घसीट ले आती थी; और ले आती थी पद्मा की मौन प्रणयस्वीकृति। मैं भी आज वन-यात्रा के उत्सव में देवता के भोग-विग्रह के साथ इस वनस्थली में आया था। बहुत से नागरिक भी आए थे। देव-विग्रह विशाल वट वृक्ष के नीचे स्थित हुआ और यात्री-दल इधर-उधर नदी-तट की नीची शैल-माला, कुँजों गह्वरों और घाटियों की हरियाली में छिप गया। लोग आमोद-प्रमोद, पानभोजन में लग गए। हरियाली के भीतर से कहीं पिकलू, कहीं कॉरनेट और देवदासियों के कोकिल कंठ का सुन्दर स्वर निकलने लगा। वह कानन नन्दन हो रहा था और मैं उसमें विचरने वाला एक देवता। क्यों? मेरा विश्वास था कि देवबाला पद्मा यहाँ है। वह भी देव-विग्रह के आगे-आगे नृत्य-गायन करती हुई आई थी।

मैं सोचने लगा—'अहा! वह समय भी आएगा, जब मैं पद्मा के साथ एकान्त में इस कानन में विचरूँगा। वह पवित्र, वह मेरे जीवन का महत्तम योग कब आएगा?' आशा ने कहा, 'बस आया ही समझो।' मैं मस्त हो कर बंशी बजाने लगा। आज मेरी बाँस की बाँसुरी में बड़ा उन्माद था। वंसी नहीं, मेरा हृदय

बज रहा था। चिदम्बरम् आकर मेरे सामने खड़ा हो गया। वह मनुष्य था। उसने कभी मेरी बाँसुरी नहीं सुनी थी। जब मैंने अपनी आसावारी बन्द की, वह बोल उठा—'अशोक, तुम एक कुशल कलावन्त हो।' कहना न होगा कि वह देवदासियों का संगीत-शिक्षक भी था। वह चला गया और थोड़ी ही देर में पद्मा को साथ लिये आया। उसके हाथों में भोजन का सामान भी था। पद्मा को उसने उत्तेजित कर दिया था। वह आते ही बोली—'मुझे भी सुनाओ।' जैसे मैं स्वप्न देखने लगा। पद्मा और मुझ से अनुनय करे! मैंने कहा—'बैठ जाओ।' और जब वह कुसुम-कंकण-मण्डित करों पर कपोल रखकर मल्लिका की छाया में आ बैठी तो मैं बजाने लगा। रमेश, मैंने बंसी नहीं बजाई। सच कहता हूँ, मैं अपनी वेदना श्वासों से निकाल रहा था। इतनी करुण, इतनी स्निग्ध मैं तानें ले-लेकर उसमें स्वयं पागल हो जाता था। मेरी आँखों में मद-विकार था, मुझे उस समय अपनी पलकें बोझल मालूम होती थीं।

बाँसुरी रखने पर भी उसकी प्रतिध्वनि का सोहाग वन-लक्ष्मी के चारों ओर घूम रहा था। पद्मा ने कहा—'सुन्दर! तुम सचमुच अशोक हो।' वन-लक्ष्मी पद्मा अचल थी। मुझे एक कविता सूझी। मैंने कहा—'पद्मा! मैं कठोर पृथ्वी का अशोक, तुम तरल जल की पद्मा। भला अशोक के राग-रक्त के नव-पल्लवों में पद्मा का विकास कैसे होगा?

बहुत दिनों बाद पद्मा हँस पड़ी। उसने कहा—'अशोक तुम

लोगों से वचन चातुरी सीखूँगी। कुछ खा लो।' वह देती गई, मैं खाता गया। जब हम स्वस्थ होकर बैठे तो देखा, चिदम्बरम् चला आता है। पद्मा सिर नीचे किये अपने नखों को खुरच रही है। हम लोग सबसे ऊँचे कगारे पर थे। नदी की ओर ढालुआँ पहाड़ी करारा था। मेरे सामने संसार एक हरियाली था। सहसा रामस्वामी ने आकर कहा—'पद्मा! आज मुझे मालूम हुआ कि तुम इस उत्तरी दरिद्र पर मरती हो।' पद्मा ने छलछलाई आँखों से उसकी ओर देखकर कहा—'रामस्वामी! तुम्हारे अत्याचारों का कहीं अन्त है?'

'सो नहीं हो सकता। उठो, अभी मेरे साथ चलो।'

'ओह! नहीं, तुम क्या मेरी हत्या करोगे? मुझे भय लगता है।'

'मैं कुछ नहीं करूँगा। चलो मैं इसके साथ तुम्हें नहीं देख सकता।' कहकर उसने पद्मा का हाथ पकड़कर घसीटा। वह कातर दृष्टि से मेरी ओर देखने लगी। उस दृष्टि में जीवन भर के किये गए अत्याचारों का विवरण था। उन्मत्त पिशाच-सदृश बल से मैंने रामस्वामी को धक्का दिया और मैंने हतबुद्धि होकर देखा, वह तीन सौ फीट नीचे चूर होता हुआ नदी के स्रोत में जा गिरा, यद्यपि मेरी वैसी इच्छा न थी। पद्मा ने मेरी ओर भयपूर्ण नेत्रों से देखा और मैं अवाक्! उसी समय चिदम्बरम् ने आकर मेरा हाथ पकड़ लिया। पद्मा से कहा—'तुम शीघ्र देवदासियों में जाकर मिलो। सावधान! एक शब्द भी मुख

से न निकले ! मैं अशोक को लेकर नगर की ओर जाता हूँ !' वह बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये मुझे घसीटता ले चला। मैं नहीं जानता कि मैं कैसे घर पहुँचा। मैं कोठरी में अचेत पड़ा रहा। रात भर वैसे ही रहा। प्रभात होते ही तुम्हें पत्र लिख रहा हूँ। मैंने क्या किया? रमेश! तुम कुछ लिखो, मैं क्या करूँ ?

—अधम अशोक

* * *

(..........)

८-५-२५

प्रिय रमेश !

तुम्हारा यह लिखना कि 'सावधान बनो' पत्र में ऐसी बातें अब न लिखना !' व्यर्थ है। मुझे भय नहीं, प्राण की चिन्ता नहीं।

नगर भर में केवल यही जनश्रुति फैली है कि 'रामस्वामी उस दिन से कहीं चला गया और वह पन्ना के प्रेम से हताश हो गया था।' मैं किंकर्त्तव्यविमूढ़ हूँ। चिदम्बरम् मुझे दो मुट्ठी भात खिलाता है। मैं मन्दिर के विशाल प्राङ्गण में कहीं न कहीं बैठा रहता हूँ। चिदम्बरम् जैसे मेरा उस जन्म का पिता है। परन्तु पन्ना ! अहा ! उसी दिन से उसको गाते और नाचते नहीं देखा। वह प्रायः सभा मण्डप के स्तम्भ से टिकी हुई, दोनों हाथों से अपने एक घुटने को छाती से लगाये अर्द्ध स्वप्ना-वस्था में बैठी रहती है। उसका मुख विवर्ण, शरीर शीर्ण, पलक अथाह और उसके ध्यान में नान्दिक स्पन्दन है। नर नारी

उसे देखकर भ्रम करते होंगे कि वह भी कोई प्रतिमा है। और मैं सोचता हूँ कि मैं हत्यारा हूँ। स्वेद से स्नान कर लेता हूँ, घृणा से मुख ढक लेता हूँ। उस घटना के बाद से हम तीनों में कभी इसकी चर्चा न हुई। क्या सचमुच पद्मा रामस्वामी को चाहती थी। मेरे प्यार ने भी उसका अपकार ही किया, और मैं? ओह! वह स्वप्न कैसा सुन्दर था।

रमेश! मैं देवता की ओर देख भी नहीं सकता। सोचता हूँ कि मैं पागल हो जाऊँगा। फिर मन में आता है कि पद्मा भी बावली हो जायगी। यदि ऐसा हो जाता—हम दोनों पागल हो जाते। परन्तु मैं पागल न हो सकूंगा, क्योंकि मैं पद्मा से कभी अपना प्रणय प्रकट न कर सका। उसके, एक बार अपने में आने की प्रतीक्षा है। और स्पष्ट शब्दों में उस से कह देने की कामना है—पद्मा, मैं तुम्हारा प्रेमी हूँ। तुम मेरे लिए सोहागिनी के कुङ्कुम-बिन्दु के समान पवित्र, इस मन्दिर के देवता की तरह भक्ति की प्रतिमा और मेरे दोनों लोकों की निगूढ़तम आकांक्षा हो।

पर वैसा होने का नहीं। मैं पूछता हूँ कि पद्मा और चिदम्बरम् ने मुझे फाँसी क्यों नहीं दिलाई?

रमेश! अशोक विदा लेता है। वह पत्थर के मन्दिर का एक भिखारी है। अब पैसा नहीं कि तुम्हें पत्र लिखूँ और किसी से माँगूगा भी नहीं। अधम नीच अशोक लल्लू को किस मुँह से आशीर्वाद दे।

—हतभाग्य अशोक

: सात :

पानवाली

(श्री चतुरसेन शास्त्री)

(१)

लखनऊ के अमीनाबाद पार्क में इस समय जहाँ घंटाघर है, वहाँ अब से ७० वर्ष पूर्व एक छोटी-सी टूटी हुई मस्जिद थी, जो भूतोंवाली मस्जिद कहलाती थी, और अब जहाँ गंगा-पुस्तक-माला की आलीशान दूकान है, वहाँ एक छोटा-सा एकमंजिला घर था। चारों तरफ न आज की-सी बहार थी, न बिजली की चमक, न बढ़िया सड़कें, न मोटर, न मेम-साहिबाओं का इतना जमघट।

लखनऊ के आखिरी बादशाह प्रसिद्ध वाजिदअली की अमलदारी थी। ऐयाशी और ठाट-बाट के दौर-दौरे थे। मगर इस मुहल्ले में रौनक न थी। उस घर में एक टूटी-सी कोठरी में एक बुढ़िया मनहूस सूरत, सन के समान बालों को बिखेरे, बैठी किसी की प्रतीक्षा कर रही थी। घर में एक दिया धीमी आभा से टिमटिमा रहा था। रात के दस बज गये थे। जाड़े के दिन थे, सभी लोग अपने-अपने घरों में रज़ाइयों में मुँह लपेटे पड़े थे। गली और सड़क पर सन्नाटा था।

धीरे-धीरे बढ़िया वस्त्रों में आच्छादित एक पालकी इस टूटे घर के द्वार पर चुपचाप रुकी और काले वस्त्रों से आच्छादित

एक स्त्री-मूर्ति ने बाहर निकलकर धीरे-से द्वार पर थपकी दी। तत्काल द्वार खुला, और स्त्री ने घर में प्रवेश किया।

बुढ़िया ने कहा—"ख़ैर तो है?"

"सब ठीक है, क्या मौलवी साहब मौके पर मौजूद हैं?"

"कब के इन्तजार कर रहे हैं, कुछ ज्यादा जाँफ़िशानी तो नहीं करनी पड़ी?"

"जाँफिशानी? बेखुश, जान पर खेल कर लाई हूँ, करती भी क्या? गर्दन थोड़े ही उतरवानी थी।"

"होश में तो है?"

"अभी बेहोश है। किसी तरह राजी न होती थी। मजबूरन यह किया गया।"

"तब चलें।"

बुढ़िया उठी। दोनों पालकी में जा बैठीं। पालकी संकेत पर चलकर मस्जिद की सीढ़ियाँ चढ़ती हुई भीतर चली गई।

(२)

मस्जिद में सन्नाटा और अन्धकार था, मानो वहाँ कोई जीवित पुरुष नहीं है। पालकी के आरोहियों को इसकी परवाह न थी। वे पालकी को सीधे मस्जिद के भीतर कक्ष में ले गये। यहाँ पालकी रक्खी। बुढ़िया ने बाहर आकर एक कोठरी में प्रवेश किया। वहाँ एक आदमी सिर से पैर तक चादर ओढ़े सो रहा था। बुढ़िया ने कहा—"उठिए मौलवी साहब, मुरदों का तावीज इनायत कीजिए। क्या अभी बुखार नहीं उतरा?"

"अभी तो चढ़ा ही है"—कहकर मौलवी साहब उठ बैठे। बुढ़िया ने कुछ कान में कहा, मौलवी साहब सफेद दाढ़ी हिला-

कर बोले—"समझ गया, कुछ खटका नहीं है। हैदर खोजा मौके पर रोशनी लिए हाज़िर मिलेगा। मगर तुम लोग बेहोशी की हालत में किस तरह—"

"आप बेफिक्र रहें। बस सुरंग की चाबी इनायत करें।"

मौलवी साहब ने उठकर मस्जिद की बाईं ओर के चबूतरों के पीछे वाले भाग में जाकर एक क़ब्र का पत्थर किसी तरकीब से हटा दिया। वहां सीढ़ियाँ निकल आईं। बुढ़िया उसी तंग तहख़ाने के रास्ते उसी काले वस्त्र से आच्छादित लम्बी स्त्री के सहारे एक बेहोश स्त्री को नीचे उतारने लगी। उनके चले जाने पर मौलवी साहब ने गौर से इधर-उधर देखा, और फिर किसी गुप्त तरकीब से तहख़ाने का द्वार बन्द कर दिया। तहख़ाना फिर कब्र बन गया।

(३)

उन हज़ारों फ़ानूसों में कसूमा बत्तियाँ जल रही थीं और कमरे की दीवार गुलाबी साटन के परदों से छिप रही थी। फ़र्श पर ईरानी कालीन बिछा था, जिस पर निहायत नफ़ीस और खुशरंग काम बना हुआ था। कमरा खूब लम्बा-चौड़ा था। उसमें तरह-तरह के ताज़े फूलों के गुलदस्ते सजे हुए थे और हिना की तेज़ महक से कमरा महक रहा था। कमरे के एक बाजू में मखमल का बालिश्त भर ऊंचा एक गद्दा बिछा था, जिस पर कारचोबी का उभरा हुआ बहुत ही खुशनुमा काम था। उस पर एक बड़ी सी मसनद लगी थी, जिस पर चार सुनहरे खम्भों पर मोती की झालर का चन्दोवा तना था।

मसनद पर एक बलिष्ठ पुरुष उत्सुकता से किन्तु अलसाया बैठा था। इसके वस्त्र अस्त-व्यस्त थे। इसका मोती के समान उज्वल रंग, कामदेव को मात करने वाला प्रदीप्त सौंदर्य, फब्बेदार मूछें, रस-भरी आखें और मदिरा-प्रस्फुटित होंठ कुछ और ही समाँ बाँध रहे थे। सामने पानदान में सुनहरी गिलौरियाँ भरी थीं। इत्रदान में शीशियाँ लुढ़क रही थीं। शराब की प्याली और सुराही क्षण-क्षण पर खाली हो रही थी। वह सुगन्धित मदिरा मानों उसके उज्वल रंग पर सुनहरी निखार ला रही थी। उसके कण्ठ में पन्ने का एक बड़ा सा कण्ठा पड़ा था और उँगलियों में हीरे की अंगूठियाँ बिजली की तरह दमक रही थीं। यही लाखों में दर्शनीय पुरुष लखनऊ के प्रख्यात नवाब वाजिदअली शाह थे!

कमरे में कोई न था। वह बड़ी आतुरता से किसी की प्रतीक्षा कर रहे थे। वह आतुरता क्षण-क्षण पर बढ़ रही थी। एकाएक एक खटका हुआ। बादशाह ने ताली बजाई और वही लम्बी स्त्री-मूर्ति सिर से पैर तक काले वस्त्रों से शरीर को लपेटे मानों दीवार फाड़ कर आ उपस्थित हुई।

"ओह मेरी गबरू! तुमने तो इन्तजार ही में मार डाला। क्या गिलौरियाँ लाई हो?"

"मैं हुजूर पर कुर्बान!" इतना कह कर उसने वह काला लबादा उतार डाला। उफ़ गजब! उस काले आवेष्ट में मानो सूर्य का तेज छिपा था। क़मरा चमक उठा। बहुत बढ़िया चमकीले विलायती साटन का पोशाक पहने एक सौन्दर्य की प्रतिमा इस तरह निकल आई, जैसे राख के ढेर में से अंगार! इस अनिष्ठ सौन्दर्य की रूप-रेखा कैसे बयान की जाय? इस अंग्रेजी

राज्य और अंग्रेजी सभ्यता में, जहाँ क्षणभर चमककर बादलों में विलीन हो जाने वाली बिजली, सड़क पर अयाचित ढेरों पर प्रकाश बखेरती रही है, तब इस रूप-ज्वाला की उपमा कहाँ ढूँढी जाय? उस अन्धकारमय रात्रि में यदि उसे खड़ा कर दिया जाय तो वह कसौटी पर स्वर्ण-रेखा की तरह दीप्त हो उठे और यदि वह दिन के उज्वल प्रकाश में खड़ी कर दी जाय, तो उसे देखने का साहस कौन करे? किन आँखों में इतना तेज है?

उस सुगन्धित और मधुर रात्रि में मदिरा-रंजित नेत्रों से वाजिदअली की वासना उस रूप-ज्वाला को देखते ही भड़क उठी। उन्होंने कहा—"रूपा, जरा नजदीक आओ। एक प्याला शीराजी और पानी लगाई हुई अंबरी पान की बिड़ियाँ दो तो। तुमने तो तरसा-तरसाकर मार डाला।"

रूपा आगे बढ़ी, सुराही से शराब उँड़ेली और जमीन में घुटने टेककर आगे बढ़ा दी, इसके बाद उसने चार सोने के वर्क-लपेटी बिड़ियाँ निकालकर बादशाह के सामने पेश कीं और दस्तबस्ता अर्ज की—"हुजूर की खिदमत में लौंडी यह तोहफा ले आई है।"

वाजिदअली शाह की बाछें खिल गईं। उन्होंने रूपा को घूम-घूमकर कहा—"वाह! तब तो आज....." रूपा ने संकेत किया। हैदर खोजा उस फूलसी मुरझाई कुसुम-कली को फूल की तरह हाथों पर उठाकर—पान-गिलौरी की तश्तरी की तरह—बादशाह के रूबरू कालीन पर डाल गया। रूपा ने बाँकी अदा से कहा—"हुजूर को आदाब!" और चल दी।

(४)

एक चौदह वर्ष की, भयभीत, मूर्च्छित, असहाय, कुमारी बालिका अकस्मात् आँख खुलने पर सम्मुख शाही ठाट से सजे हुए महल और दैत्य के समान नरपशु को पाप वासना से प्रमत्त देखकर क्या समझेगी ? कौन अब इस भयानक क्षण की कल्पना करे। वही क्षण—होश में आते ही उस बालिका के सामने आया। वह एकदम चीत्कार करके फिर बेहोश हो गई। पर इस बार शीघ्र ही उसकी मूर्च्छा दूर हो गई। एक अतर्क्य साहस, जो ऐसी अवस्था में प्रत्येक जीवित प्राणी में हो जाता है, उस बालिका के शरीर में उदय हो आया। वह सिमट कर बैठ गई, और पागल की तरह चारों तरफ एक दृष्टि डालकर एकटक उस मत्त पुरुष की ओर देखने लगी।

उस भयानक क्षण में भी उस विशाल पुरुष का सौन्दर्य और प्रभा देखकर उसे कुछ साहस हुआ। वह बोली तो नहीं, पर कुछ स्वस्थ होने लगी।

नवाब ज़ोर से हँस दिये। उन्होंने गले का वह बहुमूल्य कण्ठा उतारकर बालिका की ओर फेंक दिया। इसके बाद वह नेत्रों के तीर निरन्तर फेंकते बैठे रहे।

बालिका ने कण्ठा देखा भी नहीं, छुआ भी नहीं, वह वैसी ही सिकुड़ी हुई, वैसी ही निर्निमेष दृष्टि से भयभीत हुई नवाब को देखती रही।

नवाब ने दस्तक दी। दो बांदियाँ दस्तबस्ता आ हाजिर हुईं। नवाब ने हुक्म दिया—"इसे गुस्ल कराकर और सब्जपरी बना कर हाज़िर करो।" उस पुरुष-पाषाण की अपेक्षा स्त्रियों का संसर्ग ग़नीमत जानकर बालिका मंत्रमुग्ध सी उठकर उनके साथ चली गई।

इसी समय एक खोजे ने आकर अर्ज की—"खुदावन्द ! साहब बहादुर बड़ी देर से हाज़िर हैं।"

"उनसे कह दो, अभी जच्चाखाने में हैं, अभी मुलाकात नहीं होगी।"

"आलीजाह ! कलकत्ते से एक जल्दी..........

"मर मुए, हमारे पीर उठ रही है।"

खोजा चला गया।

लखनऊ के खास बाजार की बहार देखने योग्य थी। शाम हो चली थी और छिड़काव हो गया था। इक्कों और बहलियों, पालकियों और घोड़ों का अजीब जमघट था। आज तो उजाड़ अमीनाबाद का रंग ही कुछ और है। तब यही रौनक चौक को प्राप्त थी। बीच चौक में रूपा की पानों की दूकान थी। फ़ानूसों और रंगीन झाड़ों से जगमगाती गुलाबी रोशनी के बीच स्वच्छ बोतल में मदिरा की तरह रूपा दूकान पर बैठी थी। दो निहायत्त हसीन लौंडियाँ पान की गिलौरियाँ बनाकर उसमें सोने के वर्क लपेट रही थीं। बीच-बीच में अठखेलियाँ भी कर रही थीं। आजकल के कलकत्ते के कारंथियन थिएटर रंग-मंच पर भी ऐसा मोहक और आकर्षक दृश्य नहीं देख पड़ता जैसा उस समय रूपा की दूकान पर था। ग्राहकों का भीड़ का पार न था। रूपा खास-खास ग्राहकों का स्वागत कर पान दे रही थी। बदले में खनाखन अशर्फियों से उसकी गंगाजमुनी काम की तश्तरी भर रही थी। वे अशर्फियाँ रूपा की एक अदा, एक मुस्कराहट—केवल एक कटाक्ष का मोल थीं। पान की गिलौरियाँ तो लोगों को घातें में पड़ती थीं। एक नाजुक-अंदाज़ नवाबजादे तामजाम में बैठे अपने मुसाहबों और कहारों के झुरमुट के साथ आये, और रूपा की दूकान पर तामजाम रोका। रूपा ने सलाम करके

कहा—"मैं सदके शाहजादा साहब, ज़री चाँदी की एक गिलौरी कबूल फर्मावें।" रूपा ने लौंडी की तरफ इशारा किया। लौंडी सहमत हुई। सोने की एक रकाबी में ५-७ गिलौरियाँ लेकर तामजाम तक गई। शाहज़ादे ने मुस्कराकर दो गिलौरियाँ उठाई, एक मुट्ठी अशर्फियाँ तश्तरी में डालकर आगे बढ़े। एक खाँसाहब बालों में मेंहदी लगाये, दिल्ली के बासली के जूते पहने, तनजेब की चपकन कसे, सिर पर लैसदार ऊँची टोपी लगाये, आये। रूपा ने बड़े तपाक से कहा—"अख्खा खाँ साहब! आज तो हुजूर रास्ता भूल गये! अरे कोई है, आपको बैठने की जगह दे। अरी गिलौरियाँ तो लाओ।"

खाँ साहब रूपा के रूप की तरह चुपचाप गिलौरियों के रस का घूँट पीने लगे। थोड़ी देर में एक अधेड़ मुसलमान अमीरजादे की शकल में आये। उन्हें देखते ही रूपा ने कहा—"अरे हुजूर तशरीफ ला रहे हैं। मेरे सरकार आप तो ईद के चाँद हो गये। कहिए, खैरियत है? अरी, मिर्जा साहब को गिलौरियाँ दीं?" तश्तरी में खनाखन हो रही थी, और रूपा की रूप और पान की हाट खूब गरमा रही थी। ज्यों-ज्यों अन्धकार बढ़ता जाता था, त्यों-त्यों रूपा पर रूप का दुपहरी चढ़ रही थी। धीरे-धीरे एक पहर रात बीत गई। ग्राहकों की भीड़ कुछ कम हुई। रूपा अब सिर्फ कुछ चुने हुए प्रेमी ग्राहकों से घुल-घुलकर बातें कर रही थी। धीरे-धीरे एक अजनबी आदमी दूकान पर आकर खड़ा हो गया। रूपा ने अप्रतिभ होकर पूछा—

"आपको क्या चाहिये?"

"आपके पास क्या-क्या मिलता है?"

"बहुत-सी चीजें। क्या पान खाइयेगा?"

"क्या हर्ज है?"

रूपा के संकेत से दासी बालिका ने पान की तश्तरी अजनबी के आगे धर दी।

दो बीड़ियाँ हाथ में लेते हुए उसने कहा—"इनकी कीमत क्या है बी साहबा ?"

"जो कुछ जनाब दे सकें।"

"यह बात है ! तब ठीक, जो कुछ मैं ले सका, वह लूँगा भी !" अजनबी हँसा नहीं। उसने भेदभरी दृष्टि से रूपा को देखा।

रूपा की भृकुटी जरा टेढ़ी पड़ी और वह एक बार तीव्र दृष्टि से देखकर फिर अपने मित्रों के साथ बातचीत में लग गई। पर बातचीत का रंग जमा नहीं। धीरे-धीरे मित्रगण उठ गये। रूपा ने एकान्त पाकर कहा—

"क्या हुजूर का मुझसे कोई खास काम है ?"

"मेरा तो नहीं, मगर कम्पनी बहादुर का है।"

रूपा कांप उठी। वह बोली—"कम्पनी बहादुर का क्या हुक्म है ?"

"भीतर चलो तो कहा जाय।'

"मगर माफ कीजिये—आप पर यकीन कैसे ?"

"ओह ! समझ गया। बड़े साहब की यह चीज तो तुम शायद पहचानती ही होगी ?"

यह कहकर उन्होंने एक अँगूठी दूर से दिखा दी।

"समझ गई ! आप अन्दर तशरीफ लाइये।"

रूपा ने एक दासी को अपने स्थान पर बैठाकर अजनबी के साथ दूकान के भीतरी कक्ष में प्रवेश किया।

दोनों व्यक्तियों में क्या बातें हुईं, यह तो हम नहीं जानते, मगर उसके ठीक तीन घंटे बाद दो व्यक्ति काला लबादा ओढ़े दूकान से निकले और किनारे लगी हुई पालकी में बैठ गये। पालकी धीरे-धीरे उसी भूतोंवाली मस्जिद में पहुँची। उसी प्रकार मौलवी ने क़ब्र का पत्थर हटाया और एक मूर्ति ने क़ब्र के तहख़ाने में प्रवेश किया। दूसरे व्यक्ति ने एकाएक मौलवी को पटककर मुश्कें बाँध लीं और एक संकेत किया। क्षणभर में ५० सुसज्जित काली-काली मूर्तियाँ आ खड़ी हुईं और बिना एक शब्द मुँह से निकाले चुपचाप क़ब्र के अन्दर उतर गईं।

(६)

अब फिर चलिए अनंगदेव के उसी रंग-मन्दिर में। सुख साधनों से भरपूर वही यह कक्ष आज सजावट खतम कर गया था। सहसा उल्कापात की तरह रंगीन हाँड़ियाँ, बिल्लौरी फ़ानूस और हज़ारा झाड़ सब जल रहे थे। तत्परता से किन्तु नीरव बाँदियाँ और गुलाम दौड़-धूप कर रहे थे। अनगिनत रमणियाँ अपने मदभरे होठों की थालियों में भाव की मदिरा उँडेल रही थीं। उन सुरीले रागों की बौछारों में बैठे बादशाह वाजिदअली शाह शराबोर हो रहे थे। उस गायनोन्माद में मालूम होता था, कमरे के जड़ पदार्थ भी मतवाले होकर नाच उठेंगे। नाचने-वालियों के ठुमके और नूपुर की ध्वनि सोते हुए यौवन से ठोकर मारकर कहती थी—"उठ उठ, ओ मतवाले उठ!" उन नर्तकियों के बढ़िया चिकनदोज़ों के सुवासित दुपट्टे से निकली हुई सुगन्धि उनके नृत्यवेग से विचलित वायु के साथ घुल-मिलकर ग़दर मचा रही थी। पर सामने का सुनहरी फव्वारा, जो सामने स्थिर ताल पर बीस हाथ ऊपर फेंककर रंगीन जलबिन्दु राशियों से हाथापाई कर रहा था, देखकर कलेजा बिना उछाले कैसे रह सकता था।

उसी मसनद पर बादशाह वाजिदअली शाह बैठे थे। एक गंगाजमनी काम का अलबोला वहाँ रक्खा था, जिसकी खमीरी मुश्की तम्बाकू जलकर एक अनोखी सुगन्धि फैला रही थी। चारों तरफ़ सुन्दरियों का झुरमुट उन्हें घेरे बैठा था। सभी अधनंगी उन्मत्त, निर्लज्ज हो रही थीं। पास ही सुराही और थालियाँ रक्खी थीं और बारी-बारी से उन दुबल होठों को चूम रही थीं। आधा मद पी-पीकर वे सुन्दरियाँ उन प्यालियों को बादशाह के होठों में लगा देती थीं। वह आँखें बन्द करके उसे पी जाते थे। कुछ सुन्दरियाँ पान लगा रही थीं, कुछ अलबोले की निगाली पकड़े हुई थीं। दो सुन्दरियाँ दोनों तरफ पीकदान लिए खड़ी थीं, जिनमें बादशाह कभी-कभी पीक गिरा देते थे।

इस उल्लसित आमोद के बीच-बीच एक मुर्झाया हुआ पुष्प कुचली हुई पान की गिलौरी—वही बालिका—बहुमूल्य हीरे-खचित वस्त्र पहने—बादशाह के बिलकुल पास में लगभग मूर्च्छित और अस्तव्यस्त पड़ी थी। रह-रहकर शराब की प्याली उसके मुख से लग रही थी, और वह खाली कर रही थी। एक निर्जीव दुशाले की तरह बादशाह उसे अपने बदन से मानो अपनी तमाम इन्द्रियों को एक ही रस में शराबोर कर रहे थे। गम्भीर आधीरात बीत रही थी। सहसा इसी आनन्दवर्षा में बिजली गिरी। कक्ष के उसी गुप्त द्वार को विदीर्ण कर क्षणभर में वही रूपा काले आवरण से नखशिख ढके निकल आई। दूसरे क्षण में एक और मूर्ति वैसे ही आवेष्टन में बाहर निकल आई। क्षणभर बाद दोनों ने अपने आवेष्टन उतार फेंके। वही अग्नि-शिखा ज्वलन्त रूपा और उसके साथ गौरांग कर्नल !

नर्तकियों ने एकदम नाचना-गाना रोक दिया। बाँदियाँ शराब की प्यालियाँ लिये काठ की पुतली की तरह खड़ी-की-खड़ी रह गईं। केवल फव्वारा ज्यों-का-त्यों आनन्द से उछल रहा

था। बादशाह यद्यपि बिलकुल बदहवास थे, मगर यह सब देख कर वह मानो आधे उठकर बोले—"ओह! रूपा दिलरुबा! तुम और ऐं मेरे दोस्त कप्तान—इस वक्त यह क्या माजरा है?"

आगे बढ़कर, और अपनी चुस्त पोशाक ठीक करते हुए तलवार की मूठ पर हाथ रख कप्तान ने कहा—"कल आलीजाह की बन्दगी में हाज़िर हुआ था, मगर......

"ओह, मगर—इस वक्त इस रास्ते से? ऐं माजरा क्या है? अच्छा बैठो, हाँ, जोहरा एक प्याला मेरे दोस्त कर्नल के..."

"माफ़ करें हुजूर! इस समय मैं एक काम से सरकार की खिदमत में हाजिर हुआ हूँ।"

"काम! वह काम क्या है?"—बैठते हुए बादशाह ने कहा।

"मैं तख़लिये में अर्ज किया चाहता हूँ।"

"तख़लिया! अच्छा, अच्छा, जोहरा! ओ कादिर!"

धीरे-धीरे रूपा को छोड़कर सभी बाहर निकल गईं। उस सौंदर्य-स्वप्न में रह गई अकेली रूपा। रूपा को लक्ष्य करके कहा—"यह तो ग़ैर नहीं। रूपा! दिलरुबा! एक प्याला अपने हाथों से दो तो।" रूपा ने सुराही से शराब उँडेल लबालब प्याला भरकर बादशाह के होंठों से लगा दिया। हाय! लखनऊ के नवाब का वही अन्तिम प्याला था। उसे बादशाह ने आँखें बन्द कर पीकर कहा—"वाह प्यारी!"

"हाँ, अब तो वह बात! मेरे दोस्त......"

"हुजूर को जरा रेजिडेंसी तक चलना होगा।"

बादशाह ने उछल कर कहा—"ऐं, यह कैसी बात! रेजि-डेंसी तक मुझे?"

"जहाँपनाह, मैं मजबूर हूँ, काम ऐसा ही है।"

"इसका मतलब?"

"मैं अर्ज़ नहीं कर सकता। कल मैं यही तो अर्ज़ करने हाज़िर हुआ था।"

"ग़ैर मुमकिन ! ग़ैर मुमकिन !" बादशाह गुस्से से होंठ काटकर उठे, और अपने हाथ से सुराही उंडेल कर ३-४ प्याले पी गये। धीरे-धीरे उसी दीवार से एक-एक करके ४० गोरे संगीन और किर्चें सजाए कक्ष में घुस आये।

बादशाह देखकर बोले—"खुदा की क़सम, यह तो दग़ा है ! कादिर !"

"जहाँपनाह, अगर खुशी से मेरी अर्ज़ कबूल न करेंगे, तो खूनखराबी होगी। कम्पनी बहादुर के गोरों ने महल घेर लिया है। अर्ज़ यही है कि सरकार चुपचाप चले चलें।"

बादशाह धम से बैठ गये। मालूम होता है, क्षणभर के लिए उनका नशा उतर गया। उन्होंने कहा—"तुम तब क्या मेरे दुश्मन होकर मुझे क़ैद करने आये हो ?"

"मैं हुजूर का दोस्त हर तरह हुजूर के आराम और फहरत का ख्याल रखता हूँ, और हमेशा रखूँगा।"

बादशाह ने रूपा की ओर देखकर कहा—"रूपा ! रूपा ! यह क्या माजरा है ? तुम भी क्या इस मामले में हो ? एक प्याला—मगर नहीं, अब नहीं। अच्छा—सब साफ-साफ सच कहो ! कर्नल मेरे दोस्त...नहीं, नहीं अच्छा कर्नल ! सब खुलासाबार बयान करो।"

"सरकार, ज्यादा मैं कुछ नहीं कह सकता। कम्पनी बहादुर का खास परवाना लेकर खुद लाट साहब तशरीफ लाए हैं और आलीजाह से कुछ मशविरा किया चाहते हैं।"

"मगर यहाँ ?" "यह नामुमकिन है।"

बादशाह ने कर्नल की तरफ देखा। वह तना खड़ा था और उसका हाथ तलवार की मूठ पर था।

"समझ गया, सब समझ गया।" यह कहकर बादशाह कुछ देर हाथों से आँखें ढाँपकर बैठ गये। कदाचित् उनकी सुन्दर रस-भरी आँखों में आँसू भर आये हों।

रूपा ने पास आकर कहा—"मेरे खुदावन्द, बाँदी...."

"हट जा, ऐ नमकहराम, रज़ील, बाजारू औरत!"

बादशाह ने यह कहकर एक ठोकर लगाई, और कहा—"तब चलो! मैं चलता हूँ खुदा हाफ़िज़।"

पहले बादशाह, पीछे कप्तान, उसके पीछे रूपा, और सब के अन्त में एक-एक करके सिपाही उसी दरार में विलीन हो गये। महल में किसी को कुछ मालूम न था। वह मूर्तिमान संगीत—वह उमड़ता हुआ आनन्द-समुद्र सदा के लिये मानो किसी जादूगर ने निर्जीव कर दिया।

(७)

कलकत्ते के एक उजाड़-से भाग में, एक बहुत विशाल मकान में, वाजिदअली शाह नजरबन्द थे। ठाट लगभग वही था। सैकड़ों दासियाँ, बाँदियाँ और वेश्याएँ भरी हुई थीं, पर वह रंग कहाँ?

खाना खाने का वक्त हुआ, और जब दस्तरखान पर खाना चुना गया, तो बादशाह ने चख-चखकर फेंक दिया। अंगरेज़ अफ़सर ने घबड़ाकर पूछा—"खाने में क्या नुक्स है।"

जवाब दिया गया—"नमक खराब है।"

"नवाब कैसा नमक खाते हैं?"

"एक मन का डला रखकर उस पर पानी की धार छोड़ी जाती है। जब घुलते-घुलते छोटा-सा टुकड़ा रह जाता है तब बादशाह के खाने में वह नमक इस्तेमाल होता है।"

अंगरेज़ अधिकारी मुस्कराता चला गया। क्यों ? ओह ! हम लोगों के समझने के योग्य वह भेद नहीं।

उसी रसरंग की दीवारों के भीतर अब सरकारी दफ्तर खुल गये हैं, और वह अमर कैसर बाग़ मानो रंडुए की तरह खड़ा उस रसीली रात की याद में सिर धुन रहा है।

: आठ :

तोषी

(वृन्दावनलाल वर्मा)

अपनी गाय के लिए तोषी खेत में से हरियाली ले रही थी। उसके दोनों बच्चे खेत के छोटे-छोटे ढेलों के साथ खेल रहे थे।

गांव से कुछ दूरी पर यकायक हल्ला सुनाई पड़ा। तोषी ने झटपट हरियाली को एक कपड़े में बाँधकर सिर पर रखा। एक बच्चे को बगल में लिया और दूसरे को हाथ से पकड़ कर जल्दी-जल्दी घर की ओर चली। बच्चा मिट्टी का ढेला हाथ में लिए बिसूरता हुआ किसी तरह माँ का साथ देने लगा।

लायलपुर जिले के मझना गांव में हिन्दू-अहिन्दू, हिन्दू, सिख, मुसलमान और थोड़े-से ईसाई—लगभग बराबर थे। किसान मजदूरों का गांव था। कोई साम्प्रदायिक झगड़ा कभी नहीं हुआ था। इधर-उधर दंगों-फ़िसादों की आग लग चुकी थी, परन्तु मझना वाले अपने को सुरक्षित समझते थे।

गांव पहुँचते-पहुँचते तोषी ने देखा कि मझना वालों का विश्वास ग़लत हो गया है। बाहर के मुसलमानों ने मझना पर आक्रमण कर दिया। उनके साथ पुलिस और सेना के कुछ सिपाही थे।

पहले तो गांव के मुसलमानों ने प्रतिवाद किया, परन्तु पीछे दब गये। और बहुत-से आक्रमणकारियों में शामिल हो गए। तोषी ने किवाड़ बन्द करके साँकल चढ़ा ली और दोनों बच्चों को समेटकर एक कोने में जा बैठी। एक लड़का और दूसरी

लड़की। लड़का सात वर्ष का, लड़की चार की। घर में बूढ़ा ससुर, जो ज्वर के कारण चारपाई से लगा हुआ था। हल्ले को सुनकर बूढ़े को भी मालूम हो गया कि क्या हो रहा है। बूढ़े ने दाँत पीसे।

बोला—"न हुए मेरे बेटे घर पर, नहीं तो बदमाशों को मजा चखा देते।"

तोषी ने भगवान् को सुमरते हुए सोचा, अच्छा हुआ घर पर नहीं हैं। भगवान् उनको सुखी बनाये रखे।

तोषी का पति नन्दलाल दिल्ली के एक कारखाने में नौकर था और नन्दलाल का बड़ा भाई जियाराम नागपुर के बढ़ईखाने में मिस्त्री था।

(२)

तोषी के घर की भी बारी आई। किवाड़ फाड़ने में देर लगती देखकर आक्रमणकारियों ने घर में आग लगा दी। तोषी दोनों बच्चों को बगल में दाबकर किवाड़ों के पास आ गई। उसने विनती की, परन्तु आक्रमणकारियों ने न माना। तोषी ने किवाड़ खोल दिए। लुटेरे भीतर घुस पड़े। बुड्ढे को मार डाला। जो कुछ घर में था ले लिया। गाय को पकड़ कर बाहर घसीट ले गए।

तोषी ने अपने और अपने बच्चों के लिए दया की भीख मांगी। उसकी आयु पच्चीस-छब्बीस साल की थी। रूप साधारण, परन्तु थी तो स्त्री। लुटेरों ने उसकी और उसके बच्चों की जान नहीं ली। उन्होंने उसको एक जगह घेर कर बिठला लिया। बच्चे उसके पास थे। रो-रोकर दम-सा तोड़ रहे थे। तोषी की आँखें खुली थीं, परन्तु उसको दिखलाई कुछ भी नहीं पड़ रहा था; दिखलाई भी पड़ता था तो मानो समझ में कुछ नहीं आ

रहा था। बच्चों का रोना-कलपना उसको झटके-से दे देता था, उस समय कुछ-कुछ समझ में आता था कि क्या हो रहा है या क्या होने वाला है।

गाँव को राख करने के उपरान्त लुटेरे चल दिए। तोपी और उसके बच्चों को भी ले गए। कुछ और हिन्दू स्त्रियों के साथ भी उन्होंने यही सलूक किया, परन्तु वे स्त्रियाँ तोपी के सामने न थीं।

उसी दिन सन्ध्या के पहले वे लोग भूखी-प्यासी तोपी को एक मसजिद में ले गए। पेश इमाम के सामने तोपी और उसके बच्चों को खड़ा कर दिया गया।

बगल में खड़े हुए किसी ने तोपी से कहा—"तुमको मुसलमान होना पड़ेगा। इनकार करोगी तो बुरी तरह मारी जाओगी।"

"मैं मुसलमान नहीं होऊँगी।" सिसकती हुई तोपी बोली।

"तब मरो।"

"तैयार हूँ। मार डालो।" तोपी ने इधर-उधर देखा। मसजिद के अहाते में पास ही कुआं भी था। तोपी ने सोचा, 'दौड़ कर इसमें कूदती हूँ और अपनी इज्जत बचाती हूँ।'

जो आदमी उनके पास खड़ा था वह शायद समझ गया। पास खड़े हुए बच्चों की ओर संकेत करके उसने ठोकर-सी दी।

"ये बच्चे तुम्हारे ही हैं?"

बच्चों से लिपट कर तोपी ने फटे हुए गले से उत्तर दिया—"हाँ जी, मेरे ही हैं।"

"ये पहले मारे जायंगे। तब तुम्हारी बारी आवेगी।"

"मैं इनको नहीं मरने दूँगी। मेरे चाहे टुकड़े-टुकड़े कर डालो।"

"इनको बचाना चाहती हो तो इसलाम कबूल करो।"

कुएँ पर से आँख को हटाकर तोपी ने पेश इमाम को देखा। बहुत धीमे स्वर में तोषी के गले से प्रश्न फूटा।

"आप कौन हैं ? आप बड़े हैं—क्या मुझको न बचायंगे ?"

रूखे स्वर में पेश इमाम ने उत्तर दिया—"इस्लाम कबूल करने से बच जाओगी। तुम्हारे बच्चे भी बच जायंगे।"

बच्चे प्यासे थे। पानी के लिए त्राहि-त्राहि करने लगे। तोषी की सूखी और सूजी हुई आँखों में बिजली-सी कौंधी। उसके ओठ फड़के। परन्तु वह बिजली और वह फड़क वहीं लीन भी हो गई। उसने बच्चों की ओर देखा। सिर नीचा पड़ गया और आँख मुँद गईं।

टूटे हुए स्वर में बोली—"मैं इस्लाम को कबूल करूँगी।"

इमाम ने पूछा—"तुम्हारा नाम ?"

उत्तर मिला—"तोषी बाई।"

कलमा पढ़ने के बाद तोषी को बताया गया कि उसका नाम रहीमन हो गया।

बच्चे शहरी कानून के अनुसार स्वतः मुसलमान हो गए। निकाह के लिए उससे कुछ नहीं पूछा गया। निकट ही जो गुंडा खड़ा हुआ था उसके साथ तोषी—रहीमन—का निकाह कर दिया गया और वह उसके साथ कर दी गई।

तोषी ने कई बार आत्मघात का निश्चय किया, परन्तु बच्चों की मोहिनी ने वर्जित कर दिया।

पन्द्रह दिन बाद उस गुंडे ने तोपी को तलाक दे दिया। तीन बार 'मैंने छोड़ा' कह देने से गुंडे को छुट्टी मिल गई। गुंडे ने कुछ रुपयों में तोपी को दूसरे गुंडे के हाथ बेच दिया। उसका फिर निकाह हुआ। तोपी ने फिर मरने की ठानी, परन्तु बच्चों को वह किसके साथ छोड़ जाती ? निश्चय को पूरा न कर सकी।

इस गुंडे ने एक ही सप्ताह में तलाक दे दी। तीसरे निकाह की तैयारी हुई तब तोपी ने सोचा—"ऐसे बच्चों का क्या करूँगी जिनके लिए इतनी दुर्गति सहनी पड़े ?" उसने बच्चों को मारकर मर जाने का निर्णय किया। अवसर खोजने लगी।

(३)

पाकिस्तानी और हिन्दुस्तानी सरकार में एक समझौता हुआ। दोनों सरकारों की सेनायें अपने-अपने निष्क्रमणार्थियों को अपने-अपने पहरे में ले जायं और भगाई हुई स्त्रियों तथा बच्चों को भी अपनी रक्षा में ले लें। हिन्दुस्तानी पुलिस और सेना ने इस समझौते के अपने भाग को पूरी तरह निभाने की चेष्टा की, पाकिस्तानी पुलिस और सेना ने पैंतरों से काम लिया—अर्थात् जिन स्त्रियों को निकम्मा या व्यर्थ समझा, उनको हिन्दुस्तानी सरकार के हवाले कर देने में ही अपनी जिम्मेदारी को पूरा करना काफी माना।

नन्दलाल को अपने घर का कोई समाचार नहीं मिला। समझा सब समाप्त हो गया। समाचार पाने का कोई साधन था

भी नहीं। नागपुर से उसके भाई जियाराम के तार पर तार आए मानो नागपुर की अपेक्षा दिल्ली लायलपुर के अधिक निकट होने के कारण लायलपुर के समाचार पाने के विषय में अधिक सौभाग्यशाली हो। समाचार न मिलने पर भी दोनों भाइयों को एक पीड़ापूर्ण विश्वास था—बूढ़ा बाप मारा गया, घरबार लुट गया और स्त्री तथा बच्चे कहीं कैद में हैं !

परन्तु पाकिस्तान और हिन्दुस्तान के बीच के समझौते की बात समाचार-पत्रों में पढ़कर दोनों भाइयों के हृदय में आशा का संचार हुआ, शायद बच्चे मिल जायँ, और स्त्री भी। नन्द-लाल के जी को स्त्री की बात सोचते ही ठेस लगी। यदि स्त्री मेरे काम की न रही तो ?

उसी समय नन्दलाल को अपने बड़े भाई जियाराम का पत्र मिला। उसमें लिखा था—

"मुझको आशा है कि तोषी और बच्चे मिल जायंगे। यदि तोषी के साथ कोई जबरदस्ती की गई हो, यदि उसको मुसलमान बना लिया गया हो तो भी, मिलने पर, उसको तुरन्त ग्रहण कर लेना। वह गंगा के समान पवित्र है। हमको देह की बुराई-भलाई से कोई प्रयोजन नहीं। यदि उसकी आत्मा को कलंक नहीं लगा है तो उसको देवी की तरह अपना कर पूरे आदर के साथ घर में ले लेना। मैं उसका छुआ हुआ ही नहीं, उसका जूठन तक खाने को तैयार रहूँगा। मुझको तार देना। मैं तुरन्त नागपुर से आ जाऊँगा।"

नन्दलाल को अपने बड़े भाई की बात समझ में आ गई। उसने सोचा, "यदि अन्य हिन्दू मेरा तिरस्कार करेंगे तो देवतुल्य मेरे बड़े भाई तो मेरे साथ हैं।"

(४)

भारतीय सेना का दस्ता पाकिस्तानी पुलिस के साथ उस गाँव में पहुँचा जहाँ तोपी--या रहीमन—अपने बच्चों के साथ थी। उस दिन वह अपने बच्चों को समाप्त करने का अवसर ढूँढ़ने में व्यस्त थी। वह नहीं चाहती थी कि अब किसी के लिए भी और अधिक दुर्दशा को सहे।

भारतीय सेना के दस्ते का आना उसको मालूम हो गया। जिस गुण्डे के पास वह इस समय थी, वह उससे पीछा छुटाना चाहता था। उस गुण्डे के वर्ग वालों के मन में तोपी के प्रति किसी प्रकार का मोह न था। पाकिस्तानी पुलिस कुछ 'कार-गुजारी' दिखलाना चाहती थी। इसीलिए तोपी का पता अविलम्ब लग गया।

तोपी से पूछताछ की गई।

"तुम भारत जाना चाहती हो ?"

"क्यों ? मैं वहाँ क्या करूँगी ?"

"अपने भाईवन्दों में जाओ, अपने समाज में शामिल हो जाओ।"

"मेरा भारत में कोई नहीं है। संसार में मेरा कोई समाज नहीं।"

"तुमको यहाँ से जबरदस्ती नहीं हटाया जायगा। तुम खुशी से जाना चाहो तो जा सकती हो। आराम के साथ अमृतसर, गुरुदासपुर या दिल्ली जहाँ जाना चाहो भेज दिया जायगा।

"दिल्ली ! नहीं; मैं नहीं जाऊँगी। मैं तो मरना चाहती हूँ। आज ही मरूँगी।

परन्तु वे दोनों बच्चे वहीं खड़े रहे।

हिन्दुस्तानी दस्ते के कमाण्डर की समझ में आ गया। बोला—"बाई मैं तुम्हारी बात समझता हूँ। इन बच्चों के लिए जीती रही हो तो थोड़ा और जियो। तुम्हारा समाज इतना दुष्ट और निठुर नहीं है जितना तुम समझती हो। तुमको बाहें फैलाकर ले लिया जायगा। यदि तुम्हारी इच्छा हो तो हम लोगों के साथ-साथ चलो। हम तुम्हारे भाई हैं।"

तोपी ने कहा—"मेरे हाथ का छुआ खा लोगे। मैं मुसलमान बना ली गई हूँ।"

"बेशक खा लूँगा।" हिन्दू कमाण्डर ने आश्वासन दिया। तुम्हारा झूँठा पानी तक पी लूँगा। करके देख लो।"

तोपी ने बच्चों की ओर देखा। वह फूट-फूटकर रोई। उस का निश्चय पिघल कर बह गया। वह हिन्दुस्तानी दस्ते के साथ हो ली।

परन्तु उसको विश्वास न था।

हिन्दू कमाण्डर ने तोपी के हाथ का पकाया हुआ खाना खाया। बच्चे हफ्तों के बाद आज प्रसन्न थे और मिट्टी के ढेलों से खेल रहे थे। हिन्दू कमाण्डर आत्माभिमान के मारे फूला न समाता था। परन्तु तोपी के आँसू नहीं रुके थे। समझाता-बुझाता हुआ वह कमाण्डर उसको हिन्दुस्तान के पहले शरणार्थी-शिविर में ले आया। वहाँ से नन्दलाल के पास दिल्ली तार गया, क्योंकि तोपी ने स्वयं दिल्ली जाने से इन्कार कर दिया था।

नन्दलाल तार पाकर आ गया।

(५)

नन्दलाल ने तार द्वारा अपने बड़े भाई जियाराम को नागपुर से बुला लिया। जब नन्दलाल तोपी को अपने बच्चों सहित दिल्ली लाया तब जियाराम नागपुर से आ चुका था। वह अग-वानी के लिए रेलवे स्टेशन पर गया।

जब वे सब मिले तब उनके आँसुओं का अन्त होता नहीं दिखता था।

जियाराम ने तोपी से कहा—"बेटी, तुम गंगा की तरह पवित्र हो। जैसे राम अनन्त है उसी तरह गंगा की पवित्रता भी अनन्त है।"

उन आँसुओं ने और उस वाणी ने दिल्ली स्टेशन के अनेक हिन्दुओं को पवित्र किया।

क्या हिन्दू समाज भर की कालिमा उन आँसुओं ने थोड़ी सी भी न धोई होगी?

: नौ :

'ऐमुन तैमुन' और 'तिरिकिटता'

(पं० श्रीराम शर्मा, सम्पादक 'विशाल भारत')

सोलह और पच्चीस साल की उमर 'गधा-पचीसी उमर' कही जाती है। यह समय वढ़वार का होता है। इस काल में अंग-प्रत्यंग पुष्ट करके प्रकृति अपने मानवी पुतले को संसार-संग्राम के लिए तैयार करती है। एक प्रकार से इस समय शरीर में उफान-सा आता है। गधा-पचीसी उमर वाला युवक भी अपने को आवश्यकता से अधिक होनहार, योग्य और वलशाली समझने लगता है। और जब तक शरीर का उफान कम नहीं हो जाता, वढ़वार रुक नहीं जाती और संसार की चिन्ताओं का भूत सर पर नहीं आ वैठता; तव तक उसके पैर जमीन पर नहीं पड़ते। इस गधा-पचीसी में, आकाश में छेद कर थेगरा (पैवन्द) लगाने का भी दु:साहस होता है। इस उमर का नशा चढ़ता सब पर है। हाँ, थोड़े और बहुत की वात दूसरी है।

× × ×

गधा-पचीसी उम्र का एक ग्रामीण युवक वर्षा ऋतु में वर्दवान और कलकत्ते के वीच पैदल जा रहा था। संयुक्तप्रान्त के पश्चिमी भाग का रहने वाला था। माता-पिता से लड़कर कलकत्ते की ओर काम की खोज में चल पड़ा था। नई उमर—सो भी गधा-पचीसी की—काम की लगन और कलकत्ते के आकर्षण ने उस युवक के शरीर में विजली-सी दौड़ा दी थी। उसने खयाल किया कि अब तो मैदान मार लिया है। ६०-७० मील का

चलना ही क्या। दो सपाटों में ही कलकत्ता जा पहुँचूँगा और घर लौटने का तब तक नाम न लूँगा, जब तक हज़ार-दो हज़ार रुपये पल्ले न हो जायँगे। हाथों में अँगूठी, कान में वाली, गले में कण्ठा और मुण्डा जूता पहन कर च-चर्र करके गाँव से निकलूँगा तो मेरी अमीरी और खूबसूरती की चर्चा कानों-कान कोसों तक फैल जायगी। मेरे विवाह के लिए चारों ओर से खबरें आने लगेंगी। अम्मा मेरे निहोरे करेंगी और कक्का मुझे मनावेंगे कि बेटा, विवाह कर ले; पर मैं सिगरेट का कश खींचते हुए कहूँगा कि किसी खोचड़ के यहाँ मैं विवाह नहीं कर सकता। ऐसे सुखद चित्र खींचता हुआ वह युवक कलकत्ता की ओर बढ़ा चला जा रहा था।

दिन ढला और शाम होने आई, पर उसकी गति न ढली। इधर शाम के होते ही श्याम घटा गहरी हुई। आसमान पर रात्रि की काली अलकें बिखरी पड़ी थीं। बिजली चमकी अथवा रात ने दाँती पीसी। मूसलाधार पानी गिरने लगा। सहस्र नेत्रों से अश्रुपात होने लगा और आकाश तथा पृथ्वी का सम्पर्क हो गया। युवक का विचार-तिलिस्म टूट गया। पानी से लथपथ व्यग्र होकर वह पासवाले गाँव की ओर भागा और सबसे पहले मकान की ओर कातर दृष्टि से चकित मृगशावक की भांति देखता हुआ उस ओर बढ़ा। ठीक वैसे जैसे बाज से पीछा किये जाने पर चिड़िया आदमियों की ओर उड़ आती है।

फूँस से पटे मकान के बाहर एक चबूतरा था और उस पर एक बूढ़ा ध्यान-मुद्रा में मग्न बैठा हुआ हुक्का पी रहा था। प्रत्येक कश के साथ मानो वह अपने दिल के गुबार निकाल रहा हो। मेह बरसने और हुक्के की गुड़गुड़ में होड़ लगी हुई थी। हृष्ट-पुष्ट पछैयाँ युवक को अपनी ओर आते देख उसने हुक्का

पीना बन्द कर दिया और उसकी ओर देखने लगा। वह बोला नहीं, पर उसकी आँखें साफ बोल रही थीं। युवक ने पास आकर कहा—मैं आज की रात ठहरना चाहता हूँ। परदेशी हूँ। बस बाहर इसी चबूतरे पर पड़ा रहूँगा। आप कौन बिरादरी हैं?

बूढ़ा—"तुम कौन लोग हो?"

युवक (कुछ सहमते हुए)—"मैं ब्राह्मण हूँ।"

बूढ़ा—"हम भी ब्राह्मण हैं, कोई बात नहीं है। ठहर जाओ।"

युवक—"तो भगवान की कृपा ही हुई जो पहला मकान ब्राह्मण का ही मिल गया। पानी-फानी पीने की दिक्कत न रहेगी, चने मेरे पास हैं ही।"

बूढ़े ने उस युवक को नीचे से ऊपर तक देखा। वह उससे बात तो करता जाता था, पर उसके मन के भीतर ही भीतर विचारों की कोई दूसरी धारा बह रही थी। तूफान से नदी में धारा से विपरीत दिशा को लहरें उठती हैं; पर धारा उन बाह्य लहरों के नीचे अपनी चाल से चली जाती है। बूढ़े के मन की धारा भी ठीक वैसे ही चल रही थी, उसने युवक से कहा, "यह बंगाल है। भीगे कपड़े न पहनो। न मालूम यहाँ कौनसी बीमारी लग जावे।"

युवक—"कोई बात नहीं है। एक रात का क्या गुजारना। सोते काटी तो क्या, जागते काटी तो क्या? आप मेरे बारे में कुछ चिन्ता न करें। आपकी यह कौन कम कृपा है कि एक अजनबी आदमी को ठहरने के लिये स्थान दे दिया।"

बूढ़ा—"पच्छिम के आदमी भले होते हैं। यहाँ के किसी यात्री को मैं अपने द्वार पर खड़ा तक न होने देता। यहाँ पर छल-कपट बहुत बढ़ गया है।"

युवक—"मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि नदियों के साथ

ऊपर का सब मैल इधर ही आ गया है।"

बूढ़ा—"सो नहीं। यहाँ की हवा ही ऐसी है। हाँ, मैं तुम्हें एक धोती और कपड़ा लाये देता हूँ। सूखे कपड़े पहन लो। भीगे कपड़ों को सुखा दो, कहीं बुखार आ गया तो लेने के देने पड़ जायँगे।"

बहुत आग्रह करने पर युवक ने बूढ़े की दी हुई धोती पहन ली और वह चारपाई पर बैठ गया। बूढ़े की सहानुभूति ने तो उसकी सारी थकावट दूर कर दी और फिर गपशप होने लगी। बातों के दौरान में बूढ़े ने कहा—"तुम इतने बड़े हो गए और जनेऊ नहीं पहना! यहाँ का कोई ब्राह्मण ऐसा नहीं कर सकता।"

युवक—"हम लोग कोरे देहाती हैं; खेती करते हैं। जनेऊ विवाह के समय पहनते हैं।"

बूढ़ा—"अच्छा! तुम्हारा अभी विवाह नहीं हुआ।"

युवक—"अभी नहीं हुआ। बीसों जगह से विवाह आये; पर कुछ-न-कुछ खोट निकलती थी। कहीं लड़की काली मिलती थी तो कहीं घर अच्छा नहीं मिलता था। इसी झगड़े के मारे तो मैं इस ओर भाग आया हूँ; अब कमाकर कुछ ले जाऊँगा तो किसी अच्छे घर में विवाह करूँगा?"

बात करते-करते खाने का सवाल आया और बूढ़े ने उसे आग्रहपूर्वक भोजन करने को राजी कर लिया। उस दिन का-सा भात और शाक उसने अपने जीवन-भर में न खाया था। ऐसी खातिर उसकी कहीं न हुई थी।

अगले दिन जब युवक चलने लगा तब बूढ़े ने कहा, "खाना तैयार है, खाकर जाना, ऐसी क्या जल्दी है। बुढ़िया न जाने तुम पर क्यों प्रसन्न है। और मेरी राय तो यह है कि कुछ दिन यहीं रहो कलकत्ते में क्या खजाना रखा है? कलकत्ते का तो नाम

ही नाम है। वहाँ तो रुपया वालों की ही तूती बोलती है। मेहनती-मजूर तो वहाँ मर रहे हैं। उनका सत निकाला जा रहा है। कोई बीमार पड़ जाय तो कोई पूछता ही नहीं। उठाकर हुगली में फेंक देते हैं। किसी ने छुरी भोंक दी तो माँ-बाप चिलखते ही रह जायँगे। और सुनो, हम भी ब्राह्मण हैं। हजार-दो हजार की पूंजी मेरे पास भी है। मकान है, जमीन है। मेरे कोई लड़का भी नहीं है। अब काम भी नहीं होता। घर में मेरी एक बड़ी शऊर वाली लड़की है। कई लड़कों ने विवाह के लिए खबर भेजी है; पर मैं अपनी नेक लड़की को भाड़ में थोड़े ही झोंक दूँगा।"

विवाह प्रस्ताव से युवक स्तम्भित रह गया। सुन्दर केशों वाली युवती के विशाल नेत्र वह प्रातःकाल ही देख चुका था। गौरवर्ण न था, पर सौन्दर्य कोई रंग पर थोड़े ही है। युवक के सम्मुख कितना बड़ा आकर्षण था। घर-घूरे के साथ उसे विवाह में एक कुलीन ब्राह्मण की युवती मिल रही थी। ऐसे दिव्य अवसर को कोई मूर्ख ही भले छोड़े। आदर्शवादी छोड़ सकते हैं; पर गधा-पचीसी उमर के कितने युवकों का आदर्श कामिनी और काञ्चन---वह भी विवाह में—के सम्मुख ठहर सकता है? युवती बंगालिन के बालों में युवक का मन उलझ गया। विवाह हो गया और वह वहीं रहने लगा।

नई उमर और नया विवाह—गिलोय और नीम चढ़ी। वह युवक घरवालों को बिलकुल भूल गया। नवीन जीवन का जादू चढ़ गया। रहते रहते उसे वहां कई महीने हो गए। एक दिन बूढ़ा और उसका दामाद बैठे हुक्का पी रहे थे कि सामने से एक आदमी आता दिखाई पड़ा। दूर से ही उस आगन्तुक ने कहा, "अरे बुलाकी, कहाँ?" उस आदमी को देखकर बुलाकी का रंग पीला पड़ गया, और संकेत से उसे अलग ले जाकर कहने

लगा, "पण्डित जी पाय लागूँ। मोपे वड़ो कसूर वनि गयौ है। अव हूँ गाम जाइवे लाइक ना रहौ। जाँ मैंने एक विरामन (ब्राह्मण) की लरकिनी सूँ (से) विआउ कलओए।"

पण्डत जी—"नउआ वारे तैंने वड़ो पाप करौ।"

वुलाकी—"का करूँ अव तो फँसि गयौ। घरै आइवे लायक ना रहौ। हूँ तुम्हें वैठारि हूँ न सकतु। पालागें।"

वृद्धे ने आगन्तुक और अपने दामाद की वातें तो नहीं सुनीं पर उनकी चेष्टा से उसे कुछ दाल में काला जरूर मालूम हुआ। जैसे ही उसका दामाद लौटकर आया वैसे ही खेत पर जाने के वहाने से वृद्धे ने लकड़ी उठाई और खेत की ओर गया; पर चक्कर काटकर उसने उस आगन्तुक को जा पकड़ा और पूछा—

"तुमसे और तुम्हारे देशवाले जवान से क्या वातें हुई?"

आगन्तुक—"क्या करोगे पूछकर।"

वृद्धा—"कुछ हर्ज है वताने में?"

आगन्तुक—"वह जात का नाई है। यहाँ ब्राह्मण वनकर एक ब्राह्मण-कन्या से विवाह कर लिया है। मैंने इसीलिए उसे फटकारा था।"

लौटकर वृद्धा घर आया उसके चेहरे पर क्रोध-मिश्रित हास्य था। अपने एक हाथ को दूसरे हाथ पर इस प्रकार चलाते हुए जैसे नाई उस्तरे को वद्धी पर चलाता है वोला—"तुम अपनी जात वदल कर और धोखा देकर हमें ठगना चाहते थे। सो तुम नहीं कर पाये। तुमी ऐमुन तैमुन (एक हाथ दूसरे पर उस्तरे की भाँति करते हुए) तो आमी (मैं) तिरिकिटिता।"

वृद्धे ने ऐमुन तैमुन कहने में एक हथेली पर दूसरा हस्थ उस्तरे की भाँति चलाया और तिरिकिटता कहने में अपना सीधा हाथ वाईं वाँह पर होकर छुरी की भाँति तेजी से उँगलियों तक फेरा जैसे छुरी से वाँस की पच्चटें काटते हैं।

: दस :

जीत की हार

(श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी)

अगाध जल में एक बार डूबकर, फिर प्रवाह के ऊपर आकर जब कोई वह चलता है, तो संसार उसे किसी-न किसी प्रकार कहीं देख तो पाता है। माना, वह बहते-बहते जीवन से दूर, जगत् से भी दूर जा पड़ता है; किन्तु जलचर, नभचर और भूला-भटका कोई मानव-प्राणी उसका परिचय तो प्राप्त कर लेता है। किन्तु त्रिवेणी अपने आपको उस निर्जीव शव से भी हीन और क्षुद्र देख रहा है। प्रायः वह संसार की ओर देखता हुआ भी उससे बिलग होकर अपनी आँखें फेर लेता है। वह सोचता है, एक बार डूबा हुआ व्यक्ति भी शव होकर कभी-न-कभी किनारे लग जाता है। किन्तु दो बार डूबकर भी जो उस पार न पहुँच सका, उसका कर्मभोग कितना प्रबल है! और, फिर यह कितनी विचित्र बात है, यह त्रिवेणी न जीवित है, न मृत। जीवन रखते हुए भी वह निर्जीव है, और निर्जीव होते हुए भी जीवित।

तमोली के यहाँ से पान खाकर, ऊपर से सिगरेट का एक कश लेकर त्रिवेणी अपने घर की ओर लौट पड़ा। उसने चाहा जल्दी चले, किन्तु धीरे-धीरे, इतमीनान के साथ, चलता रहा। वह घर नहीं पहुँच पाया था, क्योंकि तमोली की दूकान से वह थोड़े फासले पर पड़ता था। उसके रास्ते में एक मन्दिर और पार्क भी मिलता था। वह अभी पार्क के कोने तक ही पहुँच पाया था कि उसे सुन पड़ा—"बाबू जी, ओ बाबू जी !"

त्रिवेणी खड़ा हो गया। उसने देखा, पुकारनेवाला वही बालक है, बिल्कुल वही जिसे सड़क पर आता देख वह घूम पड़ा था। नंगे पैर, बदन पर एक मैला फटा कुरता और नीली जीन का पुराना नेकर।

किन्तु त्रिवेणी को दूर से ही देखकर, क्षणभर में ही, बालक का भाव बदल गया। उसके मुख पर सरल हास खेलने लगा।

और त्रिवेणी ?

वह उसे इतना प्रसन्न देखकर भी अपने में तुरन्त कोई परिवर्तन न पा सका।

बालक जब बिलकुल त्रिवेणी के पास, उससे लगकर, खड़ा हो गया, तो त्रिवेणी जैसे भीतर से बाहर आकर, चकित भाषा में, बोल उठा—"अरे, तू इधर कैसे आ निकला !"

"मिस्त्री ने दो कढ़ाइयाँ एक बाबू के पास रख आने को भेजा था। लौटते हुए जो तुम्हें तमोली की दूकान से वापस जाते देखा, तो मैं इधर ही, पीछे-पीछे, चला आया।"

त्रिवेणी कुछ बोला नहीं। हाँ, उसे अपने बदन से चिपकाकर उसके सिर पर हाथ अवश्य फेरने लगा।

तब बालक ने धीरे-धीरे, लजाते-लजाते, साहस करके, कह दिया—"दो पैसे दे दो बाबू!"

"क्या करेगा पैसा लेकर?" कहकर त्रिवेणी ने उसकी ठुड्ढी पकड़कर ज़रा ऊपर को उचका दी।

"पान खायँगे, और सिगरेट पिएँगे।" उत्तर के साथ उत्फुल्ल बालक की दंत-पंक्ति झलक उठी।

त्रिवेणी ने एक चवन्नी उसके हाथ पर रख दी।

बालक तुरन्त अत्यधिक उत्साहित, अकल्पित अनुप्राणित होकर चलने लगा, तो त्रिवेणी ने कहा—"मिठाई भी खा लेना गोपाल, भला!"

इस बालक से संबंध रखनेवाली त्रिवेणी के जीवन की एक कथा है।

त्रिवेणी उस समय विधुर था। उसकी स्त्री का स्वर्गवास हुए दो वर्ष व्यतीत हो चुके थे। उसने सोचा था, अब दूसरा विवाह नहीं करेगा; क्योंकि स्त्री विधवा हो जाती है, तो हिन्दू-समाज उसे दाम्पत्य-सुख से सदा के लिये वंचित कर देता है, और पुरुष जब विधुर हो जाय, तो उसके लिए भी इसी प्रकार का कोई बंधन होना चाहिये।

किंतु यह उत्तर केवल मित्रों के आग्रह का समाधान करने के लिए होता था। असल बात और थी, और चाहे न भी हो, पर उसके सोचने का ढंग जरूर दूसरा था। वह सोचता था—जब नंदिनी चली गई तो अब दूसरा विवाह करके फिर से एक नवीन संसार वह कैसे बनाये ?

दिन चल रहे थे। दिन तो चल रहे थे, पर त्रिवेणी जीवन से उत्तरोत्तर विरक्त होता जा रहा था। घर पर उसे कोई काम नहीं करना पड़ता था। पिता नगर के सूत-बाजार के प्रतिष्ठित दलाल थे। उनकी आय निर्वाह-भर के लिए यथेष्ट होती थी। यह दारुण आघात त्रिवेणी की आत्मा पर इतनी गहराई से अंकित हो चुका था कि संसार की किसी भी वस्तु से उसका कोई संबंध नहीं रह गया था। उसकी मां जब बहुत आग्रह करती तो भोजन कर लेता। उसका सूखा, मुरझाया और पिचका हुआ मुख देखकर उससे आधी बात करने का भी किसी को साहस न होता था। कभी-कभी कई दिन तक वह

घर के बाहर रहता। कभी पार्क में सो रहा, तो कभी किसी मित्र के यहाँ। किसी ने खिला दिया, तो खा लिया, अन्यथा पूरा उपवास कर गया। लेटा है, तो दस-दस, बारह-बारह घंटे लेटा ही है। कोई कुछ पूछता, तो उत्तर दे देता, पर अपनी ओर से किसी से बात न करता था।

लेकिन मनुष्य इस तरह कितने दिन रह सकता है? इस तरह का व्यक्ति या तो महाप्रस्थान की ओर बढ़ जायगा, या किसी-न-किसी दिन प्रतिक्रिया के प्रणय-पाश में पड़कर कुछ-का-कुछ हो बैठेगा। जीवन रहते नवल भावनाओं के मृदुल दोलन से अपने आपको सर्वथा अक्षुण्ण रख कैसे सकेगा?

❀ ❀ ❀

संयोग की बात, एक दिन त्रिवेणी केदार के घर जा पहुँचा। उसके साथ उसका दूर का नाता था। उसकी नवभार्या नंदिनी की चचेरी बहन थी। उसका नाम था रामकली। त्रिवेणी उससे परिचित था। ससुराल में भी वह कली कहकर उसे पुकारता आया था; क्योंकि उन दिनों वह एक अबोध बच्ची थी।

पर कली अब वह कली न रह गई थी। वह अब खिल चुकी थी। तो भी उसके लिए नाम तो उसका कली ही था। त्रिवेणी ने अनेक वर्षों बाद जो उसे देखा तो चकित हो उठा! बोला—"अरे! मैं तो समझा बैठा था कि तू वही, उसी तरह की नन्ही-सी कली होगी। प......"

इसके बाद उसकी वाणी अटक गई। आगे की बात जैसे पर लगाकर उड़ गई।

केदार बोला—"अहो भाग्य! आपने मेरी इस झोंपड़ी में आने की कृपा तो की।" और, कली पहले थोड़ी शरमाई, जरा झिझकी किंतु उसके अधरपल्लव वांछा-हीन होते हुए भी उन्मीलित हो ही गये। आदर-पूर्वक उसने त्रिवेणी को आसन दिया, और कहा—"कहाँ भूल पड़े जीजा?"

त्रिवेणी कली की ओर एकटक देखता रह गया। वह कोई उत्तर न दे सका।

कली उस पर पंखा झलने लगी।

केदार और कली, दोनों ने सुन रक्खा था, त्रिवेणी पत्नी के वियोग में विरक्त हो गया है, यहाँ तक कि उसके जीवन का क्रम टूट चुका है। अतएव अनायास उसे सामने पाकर दोनों ने आत्मीयता के साथ स्वागत किया।

केदार उसके लिए मिष्टान्न ले आया। कली ने तश्तरी में क़ायदे से सजाकर, शीशे के गिलास में बरफ के ठंडे पानी के साथ, सामने रखते हुए विनय-पूर्वक कहा—"हम आपके स्वागत-सत्कार के योग्य नहीं। फिर भी जो कुछ है, विदुर का-सा मानकर कृपया स्वीकार कीजिये।"

केदार बोला—"मैं क्या जानता नहीं कि आप क्या-से-क्या हो गये हैं! चाचाजी से रत्ती-रत्ती समाचार मिलता रहता है।

लेकिन किया क्या जाय, आपके उस दुःख की पूर्ति तो अब संभव नहीं। जैसे बने, अपने को धैर्य के सहारे फुसला-फुसलाकर रखना है। फिर अभी आपकी उम्र ही क्या है!"

कली दामिनी-सी धवल दंत-पंक्ति झलकाकर, साड़ी का छोर भाल-बिन्दु तक खिसकाती हुई, मदिर हास के झकोर में, मंद स्वर से बोली—"इन्हें बात करने का भी शऊर नहीं है जीजा! देखो, क्या-से-क्या कहने लगे!.... खैर तुम जलपान करो जीजा, इनकी बातों में न पड़ो।"

केदार ने, जान पड़ता है, कली की बात सुन ली, इसलिये हँसता हुआ बोल उठा—"देखा आपने? यह हमें इसी तरह पागल बनाया करती है। कहती है—तुम्हें शऊर नहीं। भला, आप ही बतलाइये, आप तो पढ़े-लिखे, होशियार व्यक्ति हैं, अभी हमने आपसे ऐसी कौन-सी बात कह दी, जो बेजा हो।"

"तुम शुरू करो जीजा। हाँ-हाँ इनकी बातों में मत पड़ो।" उसी प्रकार अतिशय मंद स्वर में, हौले-हौले हँसती हुई, कली बोली।

त्रिवेणी की जैसे आँखें खुल गईं। जैसे अभी तक वह सोता ही रहा हो, और उसे यह बोध ही न हो सका हो कि संसार कितना विस्तृत है। आज उसे प्रतीत हुआ कि एक-न-एक अभाव प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में है। वह अपने ही अभाव के लिए रोता है, किन्तु जिधर भी उसकी दृष्टि जाती है, उधर प्रत्येक

का अभाव अलग-अलग स्पष्ट झलकता हुआ प्रतीत होता है। कली ने केदार को पाकर जो कुछ भी पाया है, उसके सामने है। किन्तु सब कुछ पाकर भी जो कुछ वह उसमें नहीं पा सकी, उसे भुलाकर वह रह नहीं सकती। हँसती-हँसती उसे कह डालती है, क्योंकि इस रंध्र को उसे अपनी निभृत निलय में पालकर, सुलाकर नहीं रखना है। तभी तो वह खुद ही कह डालती है—"इन्हें बात करने का भी शऊर नहीं है जीजा! देखो, क्या-से-क्या कहने लगे।" क्योंकि वह जानती है कि जो पत्नी-वियोग से व्यथित है, विदग्ध है, उससे यह बात नहीं कहनी चाहिए कि अभी उसकी उम्र ही क्या है! और तमाशा यह कि केदार बनता चतुर है, और फलतः भार्या की उपर्युक्त बात पर चिढ़ता भी नहीं है, तो भी वह इतना ही नहीं जानता कि उसकी बात में असंगति क्या है।

त्रिवेणी यही सोचता हुआ जलपान करता रहा। न तो उसने केदार की बातों का समर्थन किया, न कली के विचार का अनुमोदन! हाँ, अपलक दृष्टि से वह कली की मुद्रा में उसके अंतस्तल का प्रतिबिंब अवश्य देखता रहा।

थोड़ी देर में त्रिवेणी जब दूसरे कमरे में चला गया, तो उसने देखा, केदार कुछ गम्भीर हो गया है। तब उसके मन में आया कि वह उससे कुछ बात करे।

उधर केदार घूम-फिर कर बारंबार यही सोचने लग जाता

कि त्रिवेणी जो आज यहाँ टिक गया, तो !

वह उस प्रकार का व्यक्ति है, जो आज को उस कल की तराजू से तौला करते हैं, जो भविष्य-निकट भविष्य—का है। शिष्टाचार और आथित्य की मर्यादा वह समझता है। अवसर आने पर वर्तन वेचकर भी वह आगत का स्वागत-सत्कार करने में कभी चूक नहीं सकता। और, इसीलिए सोचने का खाता लिखते समय वह रोकड़ बाक़ी तक लिख कर ही दम लेता है। वह मानता है कि समक्ष को देखना ही यथेष्ट नहीं, वह तो अपूर्ण देखना हुआ। अरे भाई, जब देखना ही है, तो देखते क्षण हमें पृष्ठ भाग भी देख लेना चाहिए।

एक जमाना था, जब जिम्मेदारी के जीवन में पैर रखते ही उसे एक आश्रयस्थल मिल गया था। वह इन्कमटैक्स के दफ्तर में साठ रुपए महीने की नौकरी पा गया था। उस समय किसी प्रकार उसका निर्वाह हो जाता था। बचाने के संबन्ध में कभी उसने गहराई के साथ विचार नहीं किया, क्योंकि वह मानता था कि मध्यम श्रेणी का नागरिक सौ रुपए महीने से कम की आय में कुछ संग्रह कर सकने का स्वप्न नहीं देख सकता। अतएव नौकरी छूटने के वाद वह बराबर घर की पूँजी का उपयोग करके काम चलाता रहा। तभी तो आज उसे सोचना पड़ा कि त्रिवेणी आज उसके घर ठहर गया, तो !

त्रिवेणी ने कमरे में पहुँच कर, पलँग पर बैठते ही पूछ लिया "आजकल क्या करते हो केदार भाई?"

अलमारी की एक पुस्तक उठाकर उसे फिर उसी स्थान पर रखते हुए केदार ने उत्तर दिया—"क्या करूँ, क्या न करूँ, यही सोचा करता हूँ।"

"तो काम कैसे चलता है?"

"कैसे बताऊँ!"

त्रिवेणी अब तक जैसे सोता रहा हो। वह इससे पहले यह जान ही न सका कि जीवन-संघर्ष भी कोई वस्तु है। मानो यही समझता आया हो कि प्रत्येक व्यक्ति इतना समर्थ और सौभाग्यशाली होता है कि उसके यौवन-काल में भी पिता या भाई ही रुपया-पैसा पैदा करते हैं, और तब तक वह सर्वथा स्वतन्त्र रह सकता है जब तक आप-ही-आप उसके समक्ष यह समस्या उपस्थित नहीं हो जाती कि अब तो हमें कुछ करना ही पड़ेगा।

केदार कभी त्रिवेणी के पास बैठता, और कभी अन्दर जाकर भार्या से बातें करने लगता। वह खुद भूखा भी रह सकता था, किन्तु ऐसे संभ्रांत अतिथि को भूखा कैसे रखता? जब वह और देर तक अपने संकल्प-विकल्प को कली से छिपाकर न रख सका, तो उससे पूछ ही बैठा—"यह अगर आज रह गए, तो?"

विवर्ण होकर कली ने कह दिया—"आज का काम चल जायगा।" किंतु उसके इस उत्तर का केदार के मुख पर जो उत्फुल्ल भाव झलक उठा, कली ने ज्यों ही उसे ग्रहण कर पाया, त्यों ही उसने कह दिया—"किंतु कल भी अगर उन्होंने रहना चाहा, तो ?"

"कल भी अगर उन्होंने रहना चाहा, तो ?" मन-ही-मन केदार उसकी यह बात दोहराकर अग्नि की चिनगारी से जैसे चहक गया हो ! किंतु वह क्षण मूक रहकर सोचने का न था, इसलिए तुरन्त उसने कह दिया—"तो आगे का प्रबन्ध आज ही कर लेना चाहिए।"

कली ने अँगूठी उतार कर उसके हाथ पर रख दी। वह बोल न सकी। उसे प्रतीत हुआ, जैसे उसके भीतर हृत्पिंड से लेकर कंठ तक एक पाषाणशिला अटक गई है। कारण, यह उसका अन्तिम स्वर्णाभरण था।

केदार अँगूठी जेब में डालकर घर से बाहर हो गया।

❀ ❀ ❀

त्रिवेणी के जीवनव्यापी अन्धकार को एक बार फिर आलोक ने पराजित कर पाया है। वह सदा उल्लसित, उत्साहित दीख पड़ता है। केदार के सहयोग में वह स्त्री बच्चों के सिले-सिलाए अलंकृत कपड़ों का व्यवसाय करता है।

कली सिलाई, कटाई और क़सीदे का काम बहुत अच्छा जानती है। कुछ कारीगर नौकर रख लिये गए हैं। बूटे काढ़ने और सिलाई करने की तीन मशीनें उसके घर सोलह-सोलह घंटे चला करती हैं।

त्रिवेणी अब कई-कई दिन तक अपने घर नहीं जाता। घर जाने की उसे फ़ुरसत ही नहीं मिलती, जाय कैसे? उसके माता-पिता भी यह जान कर निश्चित रहते हैं कि वह किसी तरह प्रसन्न तो रहता है। माना, वह विवाह नहीं करना चाहता, लेकिन इससे क्या? अपना-अपना विचार और भाव ठहरा। जब वह किसी प्रकार इस बात पर राज़ी ही नहीं होता, तो किया क्या जाय? इस सम्बन्ध में उसके साथ ज़बरदस्ती भी तो नहीं की जा सकती!

केदार छाया की भांति त्रिवेणी का साथ देता है। उसने अनुभव किया है कि किसी के साथ आत्मीयता हो, तो ऐसी—उज्ज्वल और स्वार्थ-हीन। देखो तो इस व्यक्ति ने उसके वैसे संकुचित और क्षुद्र जीवन को कहाँ लाकर पहुँचा दिया। कली के वे आभूषण, जिनको बंधक-जीवन से छुटकारा मिलना कभी सम्भव न था, फिर लौट आए। किराए का मकान तक अपना हो गया। यह सुख, संतोषमय जीवन एक त्रिवेणी ही के द्वारा तो उसे प्राप्त हुआ।

उधर कली के जीवन में एक नया अध्याय आ गया है।

किसी काम के लिए जब वह त्रिवेणी से कुछ कहती है, तो वह तत्काल, सबसे पहले, कर डालता है। कली सोचती रह जाती है कि यह त्रिवेणी कितना ऊँचा व्यक्ति है! अः मनुष्य में इतना सौहार्द भी संभव है!

आश्विन-मास के दिन थे। केदार कहीं बाहर गया हुआ था। कई दिन के ज्वर के बाद त्रिवेणी उस दिन कुछ स्वस्थ हो पाया था। उस समय उसके सिर में थोड़ा दर्द था। कली अपनी ही तबियत से उसके सिर में तैल मलने लगी।

इस अवस्था में त्रिवेणी को एकांतवास का जो अवसर मिला, वह उसके लिये विष बन गया। कभी-कभी अवसर निकाल कर वह सोती हुई कली के निकट जाकर खड़ा हो जाता, देर तक उसके अभिराम रूप को, उसके अप्रतिम अंग सौभाग्य को एक ओर खड़ा चुपचाप देखता रहता, किन्तु आत्मविस्मृत होना तो दूर, कभी न ज़रा आगे बढ़ता, न उस प्रकार का कोई शब्द मुँह से बाहर आने देता।

संयोग की बात, उसके जीवन में यह सोने का क्षण भी आ गया। कली का कोमल अंगुलिस्पर्श पाकर वह कृतार्थ हो गया। थोड़ी देर बाद, करवट बदल कर, वह कली की ओर अपलक दृष्टि से देखने लगा।

उसी क्षण कली ने पूछ दिया—"सिर का दर्द अब कुछ कम हुआ?"

त्रिवेणी अपने ऊपर के अधिकार से, आप-ही-आप, अनपेक्षित, अवश रूप से खिसक पड़ा, बोला—"सिर का दर्द तो अच्छा हो गया।"

कली कुछ विस्मित हो उठी। बोली—"तो क्या और भी कहीं दर्द है! तुम इतना संकोच क्यों करते हो? मुझे तुम्हारे हाथ-पैर दाबने में भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती।"

जिह्वा को दंत-पंक्तियों के बीच दबाकर त्रिवेणी बोला—"तुम यह कहती क्या हो कली! छिः! छिः!"

"तो?"

"जाने दो उस बात को; मैं बिलकुल अच्छा हूँ। कहीं कोई भी दर्द-वर्द नहीं।"

मदिर हास के झकोर में कली बोली—"अब समझी। तुमने पागलपन की बात सोच डाली। राम-राम! ऐसा भी कोई सोचता है? मैं तुम्हें देवता की तरह पूजनीय मानती हूँ।"

पराजित त्रिवेणी ने तब झट से उठकर कली के चरण छू लिए। बोला—"मैं तुमसे क्षमा चाहता हूँ कली! सचमुच मेरे मन में दूसरा भाव आ गया। तुम्हारी इस मनोहर रूप-माधुरी और इन कमल-नाल-सी कोमल उँगलियों के अकल्पित स्पर्श ने मेरे भीतर एक ज्वालामुखी धधका दिया।"

"तुमने मुझे मार डाला! मैं तो तुम्हें वंदनीय मानती थी। मैं नहीं जानती थी, तुम्हारी इस पवित्र आत्मा के भीतर ऐसा

भयानक विषधर सो रहा है। तुमने यह न सोचा कि मैं हिंदू नारी हूँ, स्वामी ही मेरा सब कुछ है। दूसरे की ओर आँख उठाकर देखना भी मेरे लिए मृत्यु है।...तुम अपनी इस सारी संपत्ति को ले जाओ जीजा! मुझे एक पाई न चाहिए।" कहकर अतिशय उत्तेजित होकर कली वहाँ से उठ कर चल दी।

त्रिवेणी बहुत अशक्त हो गया था। उठ कर वह कहीं जा नहीं सकता था। तो भी उसने चल देने की दृढ़ चेष्टा की। किसी तरह सीढ़ी से नीचे उतर आया, किन्तु द्वार से आगे न बढ़ सका, लड़-खड़ाकर गिर ही पड़ा।

नौकरानी ने कुछ गिरने के शब्द के साथ जो त्रिवेणी के कराहने का शब्द सुना, तो देखा, बड़े बाबू गिर पड़े हैं। वह चिल्ला उठी—"अरे बहूजी, देखो तो, बड़े बाबू यहाँ गिरे पड़े कराह रहे हैं।"

कली दौड़ती हुई तुरन्त नीचे आई। नौकरानी ने भी सहारा दिया, तब कहीं दोनों मिलकर बड़ी कठिनाई से त्रिवेणी को ऊपर ला सकीं।

त्रिवेणी की सांस फूल आई थी! चाहते हुए भी वह कुछ कह न सका। किन्तु वह समर्थ होता, तो इतना जरूर कहता—मुझे उठाओ मत कली, यहीं पड़े-पड़े मर जाने दो। मैं तुम्हारी सहानुभूति नहीं चाहता, मैं तो एकमात्र तुम्हारी घृणा का ही पात्र हूँ।"

त्रिवेणी का घुटना छिल गया, उसकी कमर में भी चोट आ गई। कली ने डाक्टर बुलवाकर उसे दिखलाया, खुद दवा बाँधी, सेंका, और यथाविधि उसका उपचार किया। अधिकार-पूर्वक उसने उसे भरसक आराम दिया। कई दिन तक रात-दिन उसके पास बैठी रही। पचासों प्रकार की बातें उसने उससे कीं। घुमा-फिराकर उसकी पराजित आत्मा को भी उसने उल्लसित किया, यहाँ तक कि त्रिवेणी उस आघात को भी भूल-सा गया, उसने अन्त में यह भी कह डाला—"तुमने मुझे क्षमा कर दिया कली! चलो यह बहुत अच्छा हुआ। मैं तो जैसे जी गया।"

कली बोली—"तुम सोचते हो, तुम एकमात्र अपने ही हो। किन्तु तुम यह क्यों नहीं सोचते कि जितने तुम अपने हो उससे कुछ कम या अधिक, थोड़े-बहुत मेरे भी तो हो। तुम अपने ऊपर अन्य सभी प्रकार का अन्याय और अत्याचार कर सकते हो किन्तु पतन की ओर नहीं जा सकते। जीजा, तुम मेरी आशाओं के बंदी हो। तुम चल सकते हो, किन्तु तुम गिरने नहीं दिए जा सकते। तुम तो आगे रहने वाले व्यक्ति हो। बीच में तुम्हारे लिए स्थान कहाँ है?"

प्रतिहत, पराजित और द्रवीभूत त्रिवेणी बोला—"अपने इस विवेक में से थोड़ा मुझे भी दे दो, कली!"

"उलटी बात मत कहो जीजा! कली तो त्रिवेणी की सलिल-

राशि पर ही तैरती रहती है। उसने जो कुछ भी पाया है, उसी संगम का तो है। उसका अपना क्या है?"

"तुम देवी हो कली! देवता ही तुम्हें पा सकते हैं। तुम उस की गति से सर्वथा परे हो।"

"यह तुम्हारा भ्रम है जीजा!" कहकर फर्श कुरेदती अन्य-मनस्क कली "पनडब्बा ले आऊँ" कहती हुई वहाँ से उठकर अपने आवास की ओर चली गई।

❀ ❀ ❀

चौक में केदारनाथ-त्रिवेणीनाथ के नाम से एक दूकान कई वर्ष से चल रही थी। किन्तु उस पर बैठता केदारनाथ ही था; बहुत कम ऐसा अवसर आता था कि त्रिवेणी को वहाँ बैठने के लिए विवश होना पड़ता हो। उस दिन संयोग की बात, वह बहुत सवेरे वहाँ जा पहुँचा, जब दूकान पर बैठने वाला नौकर जगदीश दूकान खोल रहा था। अनायास उसे कुछ पैसों की ज़रूरत पड़ गई थी। सवेरे-सवेरे जब वह सिगरेट पी लेता, तब उसका कार्य-क्रम शुरू होता था। इधर बारह वर्षों से उसकी इस आदत में कोई अन्तर न पड़ा था। संयोग से उस दिन वह बनियान पहनकर ही घर से बाहर निकल पड़ा। रुपये-पैसे कमीज की जेब में छूट गए। पर इस बात का ख़याल उसे तब आया, जब वह पान की दूकान पर जा पहुँचा। उस समय वह बिना तमोली को पैसा दिये पान-सिगरेट नहीं लेना चाहता था।

वह सोचता था कि ऐसा न हो, तमोली की खोटी हो जाय ! तत्काल उसे खयाल आ गया कि अपनी दूकान तो खुल ही गई है, वहीं चलकर पैसा ले लूं। यही सोचकर वह तेजी से अपनी दूकान पर आ गया। किन्तु पैसा माँगने पर दूकान पर बैठने वाले नौकर ने कहा—"बाबू, पैसे तो नहीं हैं।"

त्रिवेणी ने क्रोधित होकर कह दिया—"बेवकूफ ! पैसे नहीं हैं तो, तो पैसे भुनाकर नहीं ला सकता ! गधा कहीं का !!"

नौकर त्रिवेणी के इस व्यवहार को सहन न कर सका। वह दूकान बन्द कर केदार के पास दौड़ा चला गया। तब तक घूमकर त्रिवेणी भी वहाँ जा पहुँचा। कली के सामने जो सारी बातें स्पष्ट हुईं तो उसने कह दिया—"जीजाजी, यदि आप बुरा न मानें तो मैं कुछ कहूँ।"

त्रिवेणी बोला—"कहो।"

कली ने कहा—"सवेरे-सवेरे दूकान खोलकर, बिना बोहनी किये, नोट तुड़ाकर खर्च न करने की बात दूकानदारी के विचार से सर्वथा उचित ही है। यों दूकान आपकी, नौकर आपका। आप इसे चाहे जो सजा दीजिए।"

त्रिवेणी यह अपमान सहन न कर सका। आंदोलित होकर बोला—"यह तुम्हारी क्षुद्रता है कली ! तुम रूढ़ियों की दासी हो, तुम न तो मनुष्य को पहचानती हो, न उसके प्रकृत अधिकार

को जाओ, आज से मैं इस सारी दौलत को लात मारता हूँ। आज से मैं इस घर में पैर न रक्खूंगा।"

यह कहकर त्रिवेणी वहाँ से चला आया। केदार ने बहुत समझाया, किन्तु किसी भी प्रकार अब वह उसके साथ सहयोग करने को तैयार न हो सका।

दूसरे वर्ष—

कहावत है, पुरुष पारस होता है। त्रिवेणी केदार के घर पारस बनकर आया था। वह जब चला गया, तो अकेला केदार व्यवसाय को सँभाल न सका। उसने अपने एक निकट सम्बन्धी को भी बुलाया, किन्तु उसके द्वारा परिस्थिति और भी बिगड़ गई। उसने जी खोलकर गबन किया। केदार ठहरा सीधा-सादा व्यक्ति, बेचारा उसके विश्वास में पड़कर मारा गया। बढ़े हुए खर्चों को तो वह कम न कर सका, किन्तु आय बराबर घटती गई और एक दिन ऐसा भी आ गया कि पूँजी के अभाव में केदार को व्यवसाय बन्द कर देना पड़ा।

सुख के दिनों का अनुभव कली ने बहुत थोड़े दिन कर पाया था कि उसे दुःख के दिन देखने पड़े। त्रिवेणी की मूर्ति उसके हृदय-पटल से एक क्षण को न टलती थी। रात-दिन उसके संपर्क में रहते-रहते वह उसका आत्मीय हो गया था। नित्य के वार्तालाप में, विमल मन से, जब वह कली नाम में सम्बोधन

करता, तो उसका रोम-रोम विहँस उठता था। कितने भोले निर्विकार स्नेह से वह बातें, करता था। घंटों बातें-ही-बातें हुआ करतीं, तो भी वह न थकती, न ऊबती। बीच-बीच में, दो-दो, तीन-तीन घंटों के अंतर से ही, चाय, मिठाई, फल और पान-सिगरेट का क्रम कभी भंग ही न होने पाता था। सिनेमा-सरकस, मेला-प्रदर्शनी से लेकर खान-पान तक तो साथ चलता ही था। ग़रज कि त्रिवेणी हौले-हौले उसके हृदय-तल में बस गया था। कभी कली को यह सोचने का अवसर ही न मिला कि एक दिन ऐसा भी आ सकता है, जब त्रिवेणी बात-की-बात में उसे छोड़कर चला जायगा। हाय ! वह यह भी तो न अनुभव करने पाई कि वह उसे कितना चाहने लगी है ! और उस दिन जब त्रिवेणी उसे त्याग कर चल दिया, तो अभी कल ही जीवन उसके लिए एक स्वप्न बन गया।

किन्तु उसे स्वप्न भी कैसे कहा जाय ?

स्वप्न भंग होने पर तुरन्त चेतना आती है और हम सोच लेते हैं कि चलो, कोई बात नहीं। यह सब तो एक नाटक था, एक कल्पना, अपने ही आप उठकर छलक पड़ी हुई जल-धारा की-सी एक मछली। पल-भर बाद उसका पता क्या ? निरा स्वप्न ही तो है वह।

किन्तु इस त्रिवेणी को कली स्वप्न कैसे मान ले, जब कि वह अभी कल तक अपना था। वह तो उसकी जान पर आ गया है, उसकी छाती पर सवार है, वह स्वप्न कैसे है ?

नहीं, किसी प्रकार वह स्वप्न नहीं हो सकता। वह तो सत्य है—अमिट सत्य।

देर तक यही सब सोचती हुई कली एक दिन रो पड़ी।

हम प्रायः इस बात का दावा किया करते हैं कि हम बड़े ज्ञानी हैं—दूरदर्शी इतने कि सदा कोसों आगे का पथ देखते हैं, कोई बात हमसे छिपी नहीं रह सकती। किन्तु हाय! कभी-कभी हम कितने भ्रम में रहते हैं कि यह भी नहीं जान पाते कि हम किसीको किस हद तक चाहने लगे हैं।

कली की भी यही गति हुई। वह यह जान ही न सकी कि वह अपने आपको खो रही है। और आज जब उसके जीवन के अभावों ने उत्थित होकर अपने पैर फैला दिये तब वह यह सोचती रह गई कि अरे, यह क्या हो गया! जिस वस्तु की उसने इतनी रक्षा की, आखिरकार उसे एक चोर चुरा ही ले गया। अब?

कली का रहन-सहन भी अब बदल गया था। कई-कई दिनों तक वह एक ही साड़ी पहने रहती। न साबुन से शरीर मलकर स्नान करती, न केशों में तेल कंघी का स्पर्श होने देती। खुली, बिखरी, शुष्क कुन्तल-राशि उसके शिथिल गात पर पड़ी रहती, उसका वक्ष भी कभी-कभी दिगम्बर बन जाता। किन्तु कली अपने इस स्वरूप को जैसे देख ही न पाती थी।

अब कभी-कभी स्वामी के साथ कली की खटपट भी हो

जाती। कारण, यह निर्मम दरिद्रता एक दृष्टि से जैसी पाप-नाशिनी और पुण्यमयी है, दूसरी दृष्टि से उससे भी अधिक कुलटा, कुभापिणी और कलमुँही भी है। तभी तो केदार में वह पुराना मर्ज फिर उभर आया। वह फिर असंगत बातें बकने लगा।

एक दिन त्रिवेणी की बात उठते ही वह आग हो गया। बोल उठा—"तो वह तेरा स्वामी था। मैं कोई नहीं हूँ। मैं तो श्वान हूँ—एक-एक टुकड़े के लिए दूसरों का मुँह ताकने को मजबूर! आज मालूम हुआ, इस दुर्दशा का तुझे दुःख नहीं है। तुझे त्रिवेणी के वियोग की ही व्यथा है।"

कली ने उस दिन तक के जीवन में कभी केदार के मुँह से ऐसे कटु वचन नहीं सुने थे। वह तो उसे एक सीधा-सादा, सात्विक और वरेण्य स्वामी मानती थी। किन्तु अब उसे प्रतीत हुआ कि वह तो पिशाच है। तभी उसके लम्बे-लम्बे, पैने नखों ने उसका हृत्पिंड तक विदीर्ण कर डाला।

कली उस दिन रो न सकी। दारुण आघात आँसुओं तक का अपहरण कर लेता है।

किन्तु चांडालिनी आपत्तियां आखिरकार हैं तो आपस में सगी बहन ही। एकाएक कली अस्वस्थ हो गई और उन्हीं दिनों उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ। कली यह सोचती ही रह गई—काश ऐसे समय त्रिवेणी उसके घर होता, उसके वे स्वर्ण-दिवस होते....।

और दुर्दशा-ग्रस्त काल में पुत्र-जन्म ? दैन्य को पाकर, सौख्य-वृद्धि न करके, वह तो और भी अधिक उत्पीड़ित उठता है।

केदार की बहन ने आकर किसी प्रकार उस नवजात शिशु का पालन किया। उसकी गोद में एक बच्चा था। वह उसे दूध पिलाती ही थी, इस बच्चे को भी पिलाने लगी। वह उत्तरोत्तर पनपता गया। किन्तु कली की अस्वस्थता उसका शुष्क-प्रशांत मानस पाकर क्रमशः इतनी बढ़ गई कि अन्त में केदार को उसके स्वास्थ्य लाभ के लिए जनाने हास्पिटल की शरण लेनी पड़ी।

त्रिवेणी केदार का गृह त्यागकर फिर कानपुर में रह नहीं सका। कलकत्ते में उसका बहनोई सूत का व्यापार करते थे। त्रिवेणी कलकत्ता जाकर उन्हीं के साथ रहने लगा।

गिरधारी बाबू थे रिते-घिसे आदमी, सांसारिक अनुभव में ही उनके बाल सफेद हुए थे। दस-पन्द्रह दिनों के ही सम्पर्क से उन्हें त्रिवेणी का यथार्थ परिचय मिल गया। वह यह जान गये कि है तो यह काम का आदमी व्यवसाय की नीति को समझता ही नहीं, उसकी तह तक पहुँच जाता है। किन्तु अपने इस गुण के साथ ही उच्छृंखल प्रकृति में भी वह कम अग्रसर नहीं। किसी भी दिन नौ-दो ग्यारह हो सकता है। उन्होंने एक दिन—जब दोनों खाना खाकर उठे, पान खाए गए और सिगरेट के दो-दो

कश लिए जा चुके—यों ही हँसते-हँसते कह डाला—"भाई, इस तरह नहीं चलेगा। यों चलने को चल भी सकता है, पर मैं यह नहीं चाहता कि एक दिन तुम यहाँ से रफूचक्कर हो जाओ और अवसर आने पर किसी से भी कह सको कि इतने दिन मैंने जीजाजी के साथ काम किया, पर पैसे के नाम पर फूटी कौड़ी का भी स्पर्श नहीं किया। यों रहने को यह तुम्हारा घर है, पर घर में भी तो इस तरह काम नहीं चला करता। वेतन के रूप में न सही—क्योंकि तुम मेरे यहाँ नौकरी तो भला क्या करते ?—एक साझेदार के रूप में ही सही, मैं तुम्हें विना एक दमड़ी भी लगाये इस दूकान में पांच आने की पत्ती देता रहूँगा।

त्रिवेणी ने बहुत कुछ-इधर-उधर किया, किन्तु गिरधारी बाबू साफ तबियत के आदमी थे, टस-से-मस न हुए।

इस प्रकार त्रिवेणी के निर्वाह की समस्या तो अपने आप हल हो गई। अब रह गई बात जीवन और उसके भीतर से उमड़ते हुए अभियोग की।

त्रिवेणी हठी व्यक्ति है, दुस्साहसी एक नंबर का। कोई भी काम वह पलक मारते कर सकता है। वह क्षमा बहुत कम मांगता है। मांगता है तो उसका आडंबर नहीं रचता। सच्चे हृदय से मांगता है, और फिर तदनुरूप आचार-व्यवहार रखने की चेष्टा भी करता है। किन्तु अपने आप झुककर किसी को क्षमा करना तो वह कतई नहीं जानता। और उन दशाओं

में, जब कि वह जानता है कि उसकी ग़लती नहीं है, वह अपने प्यारे-से-प्यारे के आगे भी झुक नहीं सकता। जो प्यारा है, उसके आगे उठना क्या, और झुकना क्या—यह विचार उसके मन में कभी नहीं आया। न कभी इस पर विचार करने का उसे अवसर मिला। अतएव इस विचार से अगर कोई उसे निर्मोही कहना चाहे, तो यह उसकी इच्छा पर है। वह चाहे, तो उसे ऐसा कह भी सकता है।

तो इस अर्थ में त्रिवेणी पाषाण से भी अधिक कठोर है।

किन्तु यह त्रिवेणी आज तक का है। आगे का जो त्रिवेणी है, ज़रा-सा इसको भी देखा न जाय।

रात को बारह बजे से पहले वह घर नहीं लौटता, और दिन को बारह बजे से पहले घर से निकलता नहीं। बारह से छः बजे तक घनघोर व्यस्तता—दूकानदारी। फिर सिनेमा-थिएटर, ताश-कैरम, गाना-बजाना, नशा-पानी, बहस-मुबाहसा और गाली-ग़लौज।

घर के सम्बन्ध में गिरधारी बाबू ने जो कभी पूछ दिया, तो चौकन्ना होकर उनकी ओर स्थिर दृष्टि से देखता और चुप। इच्छा हुई तो कह दिया, मुझे नहीं मालूम; नहीं तो इसकी भी ज़रूरत क्या? बेकार की बात का जैसा कहना, वैसा न कहना। गरज़ कि अगर गिरधारी बाबू ने ही लिख दिया कि

त्रिवेणी मज़े में है, तो उसके माता-पिता भले ही थोड़े निश्चित हो जायं, अन्यथा वह अपने मन से उन्हें एक शब्द तक नहीं लिखता।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि यह बात क्या है ?

हाँ, है बात। और वह यह कि जो किसी ने कानपुर नगर का नाम भी ले लिया, तो त्रिवेणी का हृत्पिंड घड़ी के पेंडुलम-सा डोल उठता है। वे सड़कें, वे मकान, वह पान की दूकान, जहाँ से वह नित्य पान खाता और सिगरेट पीता था; वे गलियाँ, जहाँ से वह निकलता था; वे सिनेमा-हाउस, जहाँ वह कली को साथ लेकर उसे सिनेमा दिखलाने जाया करता था; वे दूकानदार, जिनसे उसका सम्बन्ध रहता था—सब-के-सब जैसे उसे काटने दौड़ते हैं। वह गिरधारी बाबू के पास लगे हुए कमरे में सोता है। उसकी बहन सुशीला जान गई है कि वह स्वप्न में भी इतना उत्तेजित हो उठता है कि चारपाई से गिर पड़ता है।

वह स्वप्न में प्रायः बर्राया करता—

"तुम इतना संकोच क्यों करते हो ? मुझे तुम्हारे हाथ-पैर दाबने में भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती।....अब समझी, तुमने पागलपन की बातें सोच डालीं। राम-राम। ऐसा भी कोई सोचता है।....मैं तुम्हें देवता की भाँति पूजनीय मानती हूँ।....पर तुमने तो मुझे मार डाला, यह न सोचा कि हिन्दू नारी हूँ, स्वामी ही मेरा सब कुछ है।"

स्वप्न देखने के अनन्तर वह व्याकुलता के साथ उठकर, अतिशय भाव-गर्वित होकर रो पड़ता। सिनेमा देखते-देखते भी कभी-कभी वीच में ही उठ आता। फिर चुपचाप पार्क में, एकान्त पाकर जी भर कर रो लेता, तब कहीं उसे कुछ संतोष और शांति मिलती।

दूकान में उसके नाम कभी कोई पत्र नहीं आता था। वह खुद भी कभी किसी को कोई पत्र नहीं लिखता। किन्तु तो भी डाक आते समय वह क्षण भर को सशंकित, आतुर और पता देखते क्षण चरम अधीर हो उठता। कभी-कभी तो पोस्टमैन के हाथ से इतनी जल्दी चिट्ठियाँ पाने को वह लपक जाता कि गिरधारी बाबू ताकते रह जाते। सोचने लगते, क्या बात है कि इस क्षण यह त्रिवेणी बिल्कुल बदल जाता है।

वह आजीवन शाकाहारी रहा था। किन्तु अब उसे किसी भी खाद्य और पेय वस्तु से कोई आपत्ति नहीं थी। इस दृष्टि से मानो स्वीकार मात्र ही त्रिवेणी का रूप है, और अस्वीकार त्रिवेणी से भिन्न कोई वस्तु हो गई है।

दिन चल रहे हैं, और इन दिनों के साथ-साथ त्रिवेणी का स्वास्थ्य भी गिर रहा है। यद्यपि अपने आवास के आदमक़द आईने में अपने आपको सदेह देखकर रोज ही सोच लेता है कि वह ज्यों-का-त्यों बना है, उसमें कोई परिवर्तन अब तक न हुआ है, न आगे कभी सम्भव है।

त्रिवेणी ने जीवन को सदा प्यार किया है। किन्तु अब मानो उसने एक नया विचार टटोल पाया है। वह मानने लगा है कि मृत्यु भी जीवन का ही एक रूप है। तभी तो वह एक दम निर्भय हो गया है। वह खूब खाता है, खूब गाता है, खूब हँसता है। वह रोता भी है, किन्तु रुदन के खाते में वह चोर है—अपराधी, क्योंकि वह उसमें ग़बन करता है।

पागल कहीं का। ग़बन भी करने चला, तो रुदन-जैसी अशुभ और प्राण-पीड़क वस्तु का।

ऐसा है यह त्रिवेणी! आशाओं से हीन, आकांक्षाओं से परे, स्वार्थों से मुक्त, व्यथाओं का विजयी और आघातों का विध्वंसक। किन्तु यह सब सचमुच है कि नहीं, कौन जाने? हाँ, त्रिवेणी अपने आपको इसी रूप में देख रहा है।

एक दिन त्रिवेणी ने एक स्वप्न देखा। देखा, वह फिर बीमार पड़ गया है, और कली उसके सिर में तैल मल रही है। तैल मलते-मलते उसे कुछ ऐसा प्रतीत हुआ, मानो त्रिवेणी सो गया है किन्तु वास्तव में तब तक वह सोया नहीं था। उसने सो जाने की-सी चेष्टा-भर की थी। कली उठकर जाने को हुई कि सजग होकर त्रिवेणी ने उसका अंचल थाम लिया। वह बोला—कहां जाती हो कली? ज़रा देर और बैठो, देखो, अभी मेरे सिर का दर्द नहीं गया।

कली कहती है—छोड़ो जी मुझे ! तुम्हारे सिर में दर्द-वर्द कहीं कुछ नहीं है। यह सब तुम्हारी बहानेबाजी है—शैतानी ! मैं क्या इतना भी नहीं जानती ?

वह अपने अंचल को पकड़कर बलपूर्वक खींचती है और त्रिवेणी उसे छोड़ता नहीं। फलतः वह अंचल उस स्थान पर फट जाता है।

तब कली वहीं उसे ध्यान से देखती हुई बैठ जाती है। उसकी मुद्रा एकदम विवर्ण हो उठती है। वह अतिशय दुखी होकर कह उठती है—यह तुमने क्या किया जीजा ! मेरा अंचल फट गया।

उसी दिन पहली ट्रेन से त्रिवेणी ने कानपुर को प्रस्थान कर दिया।

× × × ×

'ये स्वप्न कोई चीज नहीं है जी ! ये सब मानवात्मा के भावोन्माद-मात्र हैं। पागल मन की चित्रित कल्पनाएँ। कहीं ऐसा भी हो सकता है कि वह......छिः छिः, कैसी अशुभ कल्पना !' त्रिवेणी रेल के रास्ते-भर यही सोचता रहा।

वह सीधा अपने घर गया। कुछ नोट उसने माँ के हाथ पर रख दिए, और बोला—'सौ रुपए-वाले हैं। यहाँ का क्या हाल चाल है ?'

प्रफुल्लित होकर माँ बोली—'चलो, तुझे कुछ समझ तो आई। मैं रात-दिन इसी सोच में रहती थी कि मेरा तिर-वेनी क्या जाने किस तरह हो! लेकिन तू कुछ दुबला दिखाई देता है।'

खाना सुशीला खुद बनाती थी कि महाराजिन ?.... लेकिन मुझे हो क्या गया? तू भूखा होगा, तुझे पहले कुछ खाने को ताजा बना दूँ, तो और बातें फिर करूँ। अच्छा तू तब तक नहा तो सही। मैं अभी तेरे लिए हलुआ बनाये देती हूँ।'

माँ का सोया हुआ प्यार उमड़ उठा। हर्षातिरेक से उसकी आँखें भर आईं।

किन्तु त्रिवेणी का वह प्रश्न ज्यों-का-त्यों रह गया। उसे वह बिल्कुल भूल गई। तब त्रिवेणी चल खड़ा हुआ; बस, इतना कहकर कि "अभी आया।"

वह झट से केदार के यहाँ दौड़ गया।

दूर से ही उसने देखा, द्वार पर एक तरह की शून्यता छाकर रह गई है, जैसे स्मशान का-सा भयानक सन्नाटा हो। द्वार के निकट पहुँचा, तो उसे भीतर से बन्द पाया। कुंडी खटखटाई तो भीतर से एक अपरिचित-सा स्वर मिला—"कौन है ?.... दद्दा घर में नहीं है।"

त्रिवेणी बोला—'एक बात सुन जाना।'

उत्तर—'पहले यह बतलाओ, तुम हो कौन ? मैं घर में अकेली हूँ और बच्चा सो रहा है।'

'मैं हूँ त्रिवेणी। कलकत्ते से आ रहा हूँ।'

'अच्छा मैंने अब जाना। बच्चा होने के बाद से भाभी सख्त बीमार हैं और अस्पताल में हैं। दादा भी वहीं हैं।.... बैठना चाहो, तो आकर किवाड़ खोल दूँ।'

त्रिवेणी प्रकंपित हो उठा। लौटा, तो पैर भारी हो गए। फिर साहस सृजन कर जल्दी से चल पड़ा। इक्का पाते ही उस पर बैठकर इक्केवान से बोला—जनाना अस्पताल।'

उस क्वार्टर में सबसे पहले उसे केदार नजर आया—रूखे-बिखरे केश, गड्ढों में धँसी, कुछ-कुछ लाल, उनींदी आँखें और मलिन वस्त्र, नजर मिलते ही बोला—"कैसी तबियत है ?"

केदार रो पड़ा। बोला—"अब तबियत पूछने आए हो ?"

उसके मन में आया कि कह दे ज़िद्दी, महज़ एक ज़रा-सी बात पर मरने वाले, नृशंस और हृदय-हीन। किन्तु मालूम नहीं क्यों वह इस बात को निगल गया।

त्रिवेणी ने देखा, वह एक मामूली चारपाई पर लेटी हुई है। न वह सुमन-शोभन मुख है, न वह कोमल, मांसल देह-यष्टि।

उसे तब वही स्वप्न याद आ गया—तुमने यह क्या किया जीजा! मेरा अंचल फट गया।

केदार भी तब तक पास आ गया।

त्रिवेणी ने उसे भी एक नोट देकर कहा—"यह लो खर्चे के लिए, और तुरन्त सिविल सर्जन को तो ले आओ।"

केदार आज्ञाकारी की भाँति चल दिया। इधर बहुत दिनों से सौ रुपये का नोट उसके हाथ नहीं आया था। उसे उलट-पलट कर वह मन-ही-मन सोचता रहा—

एक त्रिवेणी है संपत्ति, जिसकी चेरी है; और एक मैं हूँ जिसके पास इतना भी पैसा नहीं कि कली के लिये जी खोल कर कुछ कर सकता, जबकि मैं उसका स्वामी हूँ, और वह....।

हाँ, त्रिवेणी भी उसका है। नहीं तो इस समय अकस्मात् कैसे आ मिलता?

अच्छा यह माना कि कली के योग्य मैं न था, इसलिए वह मुझे त्याग कर चली जा रही है। किन्तु त्रिवेणी तो उसके योग्य है। तब उसी के लिये वह क्यों नहीं जीवित रहती। मेरे लिये न सही, उसी के लिये सही।

किन्तु त्रिवेणी ? अः ! वह तो तीर्थ सलिल है। उसके लिये उस प्रकार कुछ सोचना भी पाप है।

केदार यही सब सोचता हुआ सिविल सर्जन के यहां जा रहा है। उसे आशा हुई कि कली को वह प्राप्त कर लेगा। वह जाने न पायेगी। नहीं तो यह त्रिवेणी ऐसे समय क्यों आ जाता।

× × ×

"रोओ मत कली, रोने से तो तुम्हारा जीवन और भी ख़तरे में पड़ेगा।

"आह। कैसा जीवन जीजा, तुम अब मेरे जीवन को देखना चाहते हो।"

"हाँ, कली। मैं तुम्हें स्वस्थ और सुखी देखना चाहता हूँ।"

"स्वप्न है।"

त्रिवेणी ने अपने आपको बहुत रोक रक्खा था। उसे विश्वास था कि वह अन्त तक अपने को संयत रख सकेगा, किन्तु अब वह अपने को न सम्भाल सका। उसका कंठ भर आया। आँखों से आँसू निकलकर फर्श पर टपकने लगे।

धीरे-धीरे कली बोली—"मैं जानती थी, तुम आओगे। मुझे कुछ इस तरह की आशा हो गई थी। तुम्हें देखने की मेरी बड़ी

लालसा भी थी। किसी से कुछ कह भी नहीं सकती थी। कैसे तुम्हें खबर पहुँचाती? कैसे तुम्हें बुलवाती? लेकिन वह अंतर्यामी जो हैं। तुम आप ही-आप आ गए। अब मैं सुख से मरूँगी।"

त्रिवेणी की आँखें भरी ही रहीं। कली की बात का एक एक शब्द उसके प्राणों से लिपट जाता, और वह फूटकर रो पड़ता। रुदन के ज्वार में उसकी साँस ही पूरी न होती थी।

कली बोली—"तुम जो इस तरह रोए, तो मैं अपने जी की कसक भी न निकाल पाऊँगी।"

त्रिवेणी ने तब आँसू पोछते हुए, रुद्ध कंठ से कहा—"तो अब तुम चुप रहो क़ली!"

वह कुछ उत्तेजित-सी हो उठी। बोली—"कैसे चुप रहूँ?" घुल-घुलकर ही तो मैं इस दशा को प्राप्त हुई। चलते-चलते जी की दो बातें भी न करूँ, अब यह नहीं हो सकता।...हाँ, तो मैं कुछ भ्रम में थी जीजा! मैं नहीं जानती थी, तुम मेरे इतने निकट पहुँच गए हो। जब तुम चले गए, तब मेरी आँखें खुलीं। मुझे अनुभव हुआ कि मैं अपने आपको ग़लत समझी थी...। याद हैं उस दिन की बातें, जब तुमने मुझसे क्षमा मांगी थी?"

"उस दिन की याद मत दिलाओ क़ली!" त्रिवेणी मर्माहत होकर बोला।

कली तब और भी भाव गर्वित हो उठी। उस क्षण मालूम नहीं, बोलने की ऐसी अद्भुत शक्ति उसमें कहाँ से आ गई थी।

वह बोली—"क्यों न याद दिलाऊं ? वही दिन तो मेरे जीवन का सबसे सुन्दर दिन—जैसे सोने का दिन था। उस दिन को मैं भुला न सकी, किसी तरह न भुला सकी। तुमने जो अपना प्रेम-भाव प्रकट किया तो मैंने अपने आदर्श के अनुसार तुम्हें तीखा उत्तर दिया। मैं तब सती-धर्म की अभिमानिनी जो थी और जब तुमने क्षमा मांग ली, तब तो मैं गर्व से जैसे फूल उठी। मैंने समझा, वह मेरी जीत है। किन्तु आगे चल कर जब तुमने अपने यथार्थ रूप का परिचय दिया, तब मैं तुम्हारे लिए तरस गई मालूम नहीं, मैंने कितनी रातें तारे गिन-गिनकर; करवटें बदल-बदलकर बिता दीं। आखिरकार वह भी समझ गए, और एक दिन खुल पड़े। अब मैं उनके हृदयासन से भी वंचित हो गई, मैं कहीं की न रही। तब मुझे अनुभव हुआ कि यह मेरी हार है।

कली बातें करते करते अतिशय थक गई थी। उसके भाल और मुख के साथ-साथ समस्त शरीर में पसीने की लहर सी दौड़ गई। त्रिवेणी ने एक मुलायम चद्दर से उसकी देह-भर को पोंछ दिया। उसे प्रतीत हुआ कि ज्वर उतार पर है; क्योंकि उस समय उसका बदन कुछ अधिक गर्म प्रतीत हो रहा था।

कुछ स्थिर; किन्तु चेतन होकर कली बोली-"मैं नहीं जानती, धर्म क्या चीज़ है ; मैं यह भी नहीं जानती कि पाप क्या चीज़ है; किन्तु मैं इतना जान सकी हूँ कि प्रेम क्या चीज़ है ! उस दिन जिस भाव के लिए तुमने मुझ से क्षमा चाही थी, आज उसी

भाव के लिए मैं तुमसे क्षमा चाहती हूँ। आह यहाँ बड़ा दर्द हो उठा; हाँ यहाँ।"

कली ने एक हाथ हृदय पर रख कर दूसरे हाथ से संकेत किया। त्रिवेणी ने तदनुसार उसके हृदय-स्थल को स्पर्श करके यह जानना चाहा कि दर्द कहाँ है। किन्तु क्षण-भर में ही उसे बोध हुआ कि कहीं कुछ भी शेष नहीं है सभी कुछ समाप्त हो चुका है। शेष है भी तो केवल होठों पर मंद हास और नयनों में चिर अनुरंजित अनुरक्ति।

कली का शान्ति-संस्कार कर देने के बाद एक दिन केदार मालूम नहीं, कहाँ चला गया। फिर उसका कहीं कोई पता ही न चल सका। उसका पुत्र यह गोपाल-भर रह गया है।

× × ×

और त्रिवेणी ने तब गोपाल को पुनः अपने निकट बुला-कर उससे कह दिया—"आज तुमने मुझसे पैसे मांगे, सो मांगे, पर अब कभी न मांगना। पिताजी नेत्रों से हीन हो गए, और मैं भी बहुत दिनों से बेकार हूँ। कभी-कभी मेरे पास सिगरेट पीने को भी पैसे नहीं रह जाते! कभी मांग उठने पर जो मेरे पास दो पैसे भी न निकले, तो!"

———

: ग्यारह :

जाह्नवी

[श्री जैनेन्द्र कुमार]

आज तीसरा रोज है। तीसरा नहीं, चौथा रोज है। वह इतवार की छुट्टी का दिन था। सवेरे उठा और कमरे से बाहर की ओर झांका तो देखता हूँ, मुहल्ले के एक मकान की छत पर काँव-काँव करते हुए कौवों से घिरी एक लड़की खड़ी है और बुला रही है, "कौवो आओ, कौवो आओ।" कौवे बहुत क़ाफी आचुके हैं, पर और भी आते जाते हैं। वे छत की मुँडेर पर बैठे अधीरता से पंख हिला-हिला कर बेहद शोर मचा रहे हैं। फिर भी उन कौवों की संख्या से लड़की का मन जैसे भरा नहीं है। बुला रही है—"कौवो आओ, कौवो आओ।"

देखते-देखते छत की मुँडेर कौवों से बिल्कुल काली पड़ गई। उनमें से कुछ अब उड़-उड़ कर लड़की की धोती से जा टकराने लगे। जिस पर लड़की गाने लगी—

"कागा जुन-चुन खाइयो......।"

साथ ही उसने अपने हाथ की रोटियों में से तोड़-तोड़ कर नन्हें-नन्हें टुकड़े चारों ओर फेंकने शुरू किये। गाती रही—"कागा चुन-चुन खाइयो......।"

वह मग्न मालूम होती थी और अनायास ही उसकी देह थिरक कर नाच-सी जाती थी। कौवे चुन-चुन खा रहे थे और वह गा रही थी।

"कागा चुन-चुन खाइयो......।"

आगे वह क्या गाती है, कौवों के कलरव और उनके पंखों की फड़फड़ाहट के मारे साफ सुनाई न दिया। कौवे लपक-लपक कर मानो टूटने से पहिले उसके हाथ से टुकड़ा छीन ले रहे थे। वे लड़की के चारों ओर ऐसे छा रहे थे, मानो वे प्रेम से उसको ही खाने को उद्यत हों। और लड़की कभी इधर, कभी उधर झूम कर घूमती हुई ऐसे लग्न भाव से गा रही थी कि जाने क्या मिल रहा हो।

रोटी खत्म होने लगी। कौवे भी यह समझ गये। जब एक टुकड़ा हाथ में रह गया. तब वह गाती हुई, उस टुकड़े को हाथ में फहराती हुई जोर-जोर से दो-तीन चक्कर लगा उठी। फिर उसने वह टुकड़ा ऊपर आस्मान की ओर फेंका और बहुतसे कौवे एक ही साथ उड़कर उस पर झपटे। उस समय उन्हें देखती हुई लड़की हँस कर चीखती हुई सी आवाज में गा उठी—
"दो नैना मत खाइयो......ओरे, पीउ मिलन की आस।"

रोटियाँ खत्म हो गईं। कौवे उड़ चले। लड़की एक-एक कर उनको उड़ कर जाता हुआ देखने लगी। पल भर में छत कोरी हो गई। अब अकेली उसके बीच में वही लड़की खड़ी थी। आस-पास बहुत से मकानों की बहुत-सी छतें थीं, जिन पर कोई होगा

कोई न होगा। पर लड़की दूर अपने कौवों को उड़ते जाते हुए देखती रह गई या न जाने क्या देखती रह गई। गाना समाप्त हो गया था। धूप अभी फूटी ही थी। आसमान गहरा नीला था। उसके ओंठ खुले थे, दृष्टि स्थिर थी। जाने भूली सी वह क्या देखती रह गई थी।

थोड़ी देर बाद उसने मानो जग कर अपने आस-पास के जगत पर देखा। इसी की राह में क्या मेरी ओर भी देखा? देखा भी हो; पर शायद मैं उसे नहीं दीखा था। उसके देखने में सचमुच कुछ दीखता था, यह मैं कह नहीं सकता। पर कुछ ही पल के अनन्तर वह मानो वर्त्तमान के प्रति, वास्तविकता के प्रति चेतन हुई। और फिर बिना देर लगाये चटचट उतरती हुई नीचे अपने घर में चली गई।

मैं अपनी खिड़की में खड़ा-खड़ा चाहने लगा कि मैं भी देखूँ, कौवे कहाँ २ उड़ रहे हैं, और वे कितनी दूर चले गये हैं। पर मुश्किल से मुझे दो एक ही कौवे दीखे। क्या वे कहीं दीखते भी हैं? वे निरर्थक भाव से यहाँ बैठे थे, या वहाँ उड़ रहे थे। वे मुझे मूर्ख और घिनौने मालूम हुए। उनकी काली देह और काली चोंच मन को बुरी लगी। मैंने सोचा कि नहीं, अपनी देह मैं कौवों से नहीं नुचवाऊँगा। छिः चुन-चुन कर इन्हीं के खाने के लिए क्या मेरी देह है? देह मन्दिर नहीं है? मानव देह और कौए—छिः!

जान पड़ता है, खड़े २ मुझे काफी समय खिड़की पर ही हो

गया; क्योंकि इस वार देखा कि ढेर के ढेर कपड़े कंधे पर लादे वही लड़की फिर उसी छत पर आगई है। इस वार वह गाती नहीं है। पर वहाँ पड़ी एक खाट पर उन कपड़ों को पटक देती है। फिर उन कपड़ों में से एक-एक को चुन कर झटक कर वहीं छत पर सुखा देती है। छोटे-बड़े उन कपड़ों की गिनती काफी रही होगी। वे उठाये जाते रहे, झटके जाते रहे, फैलाए जाते रहे, पर उनका अन्त शीघ्र आता न दीखा। आखिर सब खत्म हो गये। लड़की ने सिर पर आये हुए धोती के पल्ले को पीछे किया। उसने एक अङ्गड़ाई ली, फिर सिर को जोर से हिला कर अनवँधे अपने वालों को छिटका लिया और धीमे-धीमे वहीं डोल कर उन वालों पर हाथ फेरने लगी। कभी वालों की लट को सामने लाकर देखती, फिर उसी को लापरवाही से पीछे फेंक देती। उसके वाल गहरे काले और लम्वे थे। मालूम नहीं, उसे अपने वालों पर सुख था या दुख था। कुछ देर वह उंगलियाँ फेर-फेर कर अपने वालों को छिटकाती रही। फिर चलते-चलते एकाएक उन सव वालों को इकट्ठा समेट कर झटपट जूड़ा सा वाँध, पल्ला सिर पर खींच वह नीचे उतर गई।

इसके वाद मैं खिड़की पर नहीं ठहरा। घर में छोटी साली आई हुई है। इसी शहर के दूसरे भाग में रहती है और व्याह न करके कालेज में पढ़ती है। मैंने कहा—"सुनो, यहाँ आओ।"

उसने हँस कर पूछा—"यहाँ कहाँ ?"

खिड़की के पास आकर मैंने पूछा—"क्यों जी, जाह्नवी का

मकान जानती हो ?"

"जाह्नवी ! क्यों, वह वहां है ?"

"मैं क्या जानता हूँ, कहाँ है ? पर देखो, वह घर तो नहीं है ?"

"उसने कहा— मैंने घर नहीं देखा । इधर उसने कालेज भी छोड़ दिया है ।"

"चलो अच्छा है ।"—मैंने कहा और उसे जैसे-तैसे टाला । क्योंकि वह पूछने-ताछने लगी थी कि क्या काम है, जाह्नवी को मैं क्या—कैसे—कितना जानता हूँ । सच यह था कि मैं उसे रत्ती भर भी नहीं जानता । एक बार अपने ही घर में इसी साली की कृपा और आग्रह पर एक निगाह देखा था । बताया यह गया था कि यह जाह्नवी है, और खुशी से मैंने मान लिया कि वह जाह्नवी ही होगी । उसके बाद की सचाई यह है कि मुझे कुछ नहीं मालूम कि उस जाह्नवी का क्या बन गया और क्या नहीं बना । पर किसी सचाई को बहनोई के मुँह से सुनकर स्वीकार कर ले तो सचाई क्या ? तिस पर ऐसी सचाई की नीरसता । पर ज्यों-त्यों मैंने उसे टाला ।

बात-घात में मैंने कहना भी चाहा कि ऐसी ही तुम जाह्नवी को जानती हो, ऐसी ही तुम साथ पढ़ती थी । साफ कह दो मालूम नहीं; लेकिन मैंने कुछ कहा नहीं ।

इसके बाद सोमवार हो गया, मंगलवार हो गया और आज बुध भी होकर चुका जा रहा है । चौथा रोज़ है । हर रोज़ सवेरे

खिड़की के पार दीखता है कि कौवे काँव-काँव छीन झपट कर रहे हैं और वह लड़की उन्हें रोटी के टुकड़ों के मिस कह रही है-

"कागा चुन-चुन खाइयो।"

मुझको नहीं मालूम कि कौवे जो कुछ उसका खायँगे, उसे कुछ भी इसका सोच है। कौवों को बुला रही है—"कौवो आओ, कौवो आओ। साग्रह कर रही है—"कौवो खाओ, कौवो खाओ," वह खुश है कि कौए आ गये हैं और वे खा रहे हैं; कौवों को खिलाने का आग्रह-पूर्ण निमंत्रण देते हुए भी मानों उन्हें ताकीद यही करना चाहती है कि—

"ये दो नैना मत खाइयो........।"

जो तन चुन-चुन कर खा लिया जायगा, उसको खा लेने में ऐ मेरे कौवो! खुशी से मेरी अनुमति है। वह खा-खू कर तुम सब निवटा देना। लेकिन भाई! इन दो नैनों को छोड़ देना। वे निरर्थक नहीं हैं, निराश नहीं हैं। क्या तुम नहीं जानते कि इन नैनों में एक आस भरी है, जो पराए के वस है। वह नैना पीय की आट में है। ऐ कौवो! वे मेरे नहीं हैं, मेरे तन के नहीं हैं। ये पीय की आस भरे रखने के लिए हैं। सो उन्हें छोड़ देना।

आज सवेरे भी मैंने यह सब कुछ देखा। कौवों को रोटी खिला कर वह उसी तरह नीचे चली गई। फिर छोटे-बड़े बहुत से कपड़े धोकर लाई। उसी भांति उन्हें छटक कर सुखा दिया।

वैसे ही वाल विखरा कर थोड़ी देर डोली, और सहसा ही उन्हें जूड़े में सँभाल कर नीचे भाग गई।

जाह्नवी को घर में एक वार देखा था। पत्नी ने उसे खास तौर से देख लेने को कहा था। और उसके चले जाने पर पूछा था—क्यों, कैसी है ?

मैंने कहा था—"वहुत भली मालूम होती है। सुन्दर भी है। पर क्यों ?"

"अपने विरजू के लिए कैसी रहेगी ?"

विरजू दूर के रिश्ते में मेरा भतीजा होता है। इस साल एम० ए० में पहुँचा है।

मैंने कहा—"अरे व्रजनन्दन ! वह इसके सामने वच्चा है।"

पत्नी ने अचरज से कहा—"वच्चा है ? वाईस वर्ष का तो हुआ।"

"वाईस छोड़ वयालीस का हो जाय। देखा नहीं कैसे ठाट से रहता है। यह लड़की देखो कैसी सफेद साड़ी पहनती है। विरजू इसके लायक कहाँ है ? यों भी कह सकती हो कि ये वेचारी लड़की विरजू के ठाट के लायक नहीं है।"

वात मेरी कुछ सही, कुछ व्यंग थी। पत्नी ने उसे कान पर भी न लिया। कुछ दिनों वाद मुझे मालूम हुआ, पत्नी जी की कोशिशों से जाह्नवी के माँ-वाप (माँ के द्वारा वाप से) काफी

आगे बढ़कर बात कर ली गई है। शादी के मौके पर क्या देना होगा, क्या लेना होगा, एक-एक कर सभी बातें पेशगी तै होती जा रही हैं।

इतने में सब किये-कराये पर पानी फिर गया। जब बात किनारे तक आ गई थी, तभी हमारे ब्रजनन्दन के पास एक पत्र आ गया। उस पत्र के कारण सब चौपट हो गया। और इस रंग में भंग हो जाने पर हमारी पत्नी जी का मन पहले गिर कर चूर-चूर-सा होता जान पड़ा, पर वह फिर उसी पर खुश मालूम होने लगी।

मैं तो मानो इन मामलों में अनावश्यक प्राणी हूँ ही। कानों-कान मुझे खबर तक न हुई। जब हुई तो इस तरह :—

पत्नी एक दिन सामने आ धमकी। बोली—"यह तुमने जाह्नवी के बारे में पहले से क्यों नहीं बतलाया ?"

मैंने कहा—"जाह्नवी के बारे में पहले से क्यों नहीं बतलाया, भाई ?"

"यही कि वह ऐसी है ?"

मैंने पूछा—"ऐसी कैसी ?"

उन्होंने कहा—"ज्यादा बको मत, जैसे तुम्हें कुछ नहीं मालूम।"

मैंने कहा कि—'अरे, यह तो कोई हाईकोर्ट का जज भी

नहीं कह सकता कि मुझे कुछ भी नहीं मालूम। लेकिन आखिर जाह्नवी के बारे में मुझे क्या मालूम है, यह तो मालूम हो !"

श्रीमती जी ने अकृत्रिम आश्चर्य से कहा– "विरजू के पास खत आया है, सो तुमने कुछ भी नहीं सुना ? आजकल की··· बस कुछ न पूछो। यह तो चलो भला ही हुआ कि मामला खुल गया। नहीं तो ······।"

क्या मामला, कहां कैसे खुला और भीतर से क्या कुछ रहस्य बाहर हो पड़ा, सो सब बिना जाने मैं क्या निवेदित करता। मैंने कहा—"कुछ बात साफ भी कहो।"

उन्होंने कहा—"वह लड़की आशनाई में फँसी थी। यह पढ़ी-लिखी सब एक जात की होती हैं।"

मैंने कहा—"सबकी जात बिरादरी एक हो जाय तो बखेड़ा टले, लेकिन असल बात भी तो बताओ।"

"असल बात जाननी है तो जाकर पूछो उसकी महतारी से। भली समधिन बनने चली थी। वह तो मुझे पहले से ही दाल में काला मालूम होता था। पर देखो न, कैसी सीधी-भोली बातें करती थी। वहाँ तो देर क्या थी। सब हो ही चुका था। बस लगन-मुहूर्त की बात थी। राम-राम ! भीतर पेट में कैसा कालिख रक्खे है; मुझे पता न था। चलो, आखिर परमात्मा ने इज्जत बचा ली। वह लड़की कहीं घर में आ जाती तो मेरा मुँह अब दिखाने लायक रहता ?"

मेरी पत्नी का दर्शनीय मुख क्यों—किस भाँति दिखाने लायक़ न रहता, सो उनकी बातों से समझ में न आया। उनकी बातों में रस कई भाँति का मिला। कुछ देर के बाद मैंने उनसे तथ्य पाने का प्रयत्न भी छोड़ दिया। और चुपचाप पाप-पुण्य धर्म-अधर्म की बातें सुनता रहा। पता लगाने पर मालूम हुआ कि ब्रजनन्दन के पास खुद लड़की यानी जाह्नवी का पत्र आया था। पत्र मैंने स्वयं देखा। उस पत्र को देख कर मेरे मन में कल्पना हुई कि अगर वह मेरी लड़की होती तो···? मुझे यह अपना सौभाग्य मालूम नहीं हुआ कि जाह्नवी मेरी लड़की नहीं है। उस पत्र की बात कई बार मेरे मन में उठी है। और घुमड़ती रह गई है। ऐसे समय चित्त का समाधान उड़ गया है, और मैं शून्य भाव से, हमें जो शून्य चारों ओर से ढके हुये हैं, उसकी ओर देखता रह गया।

पत्र बड़ा नहीं था। सीधे-साधे ढङ्ग से उसमें यह लिखा था कि आप जब विवाह के लिए यहाँ पहुँचेंगे तो मुझे प्रस्तुत भी पायेंगे। लेकिन मेरे चित्त की हालत इस समय ठीक नहीं है। और विवाह जैसे धार्मिक अनुष्ठान की पात्रता मुझमें नहीं है। एक अनुगता आप को विवाह द्वारा मिल जायगी, लेकिन विवाह द्वारा वैसी सेविका नहीं मिलनी चाहिए। धर्मपत्नी चाहिए। वह जीवन-सङ्गिनी भी हो। वह मैं हूँ या हो सकती हूँ, इसमें मुझे बहुत सन्देह है। फिर भी अगर आप चाहें, आपके माता-पिता चाहें तो प्रस्तुत मैं अवश्य हूँ। विवाह में आप मुझे लेंगे और

स्वीकार करेंगे तो मैं अपने को रोकूँगी नहीं। अपने को दे ही दूँगी और आपके चरणों की धूलि माथे से लगाऊँगी, आपकी कृपा मानूंगी, कृतज्ञ होऊँगी। पर निवेदन है कि यदि आप मुझ पर से अपनी माँग उठा लेंगे, मुझे छोड़ देंगे तो भी मैं कृतज्ञ होऊँगी। निर्णय आप के हाथ है, जो चाहें करें।

मुझे ब्रजनन्दन पर आश्चर्य आकर भी आश्चर्य नहीं होता। उसने दृढ़ता के साथ कह दिया कि मैं यह विवाह नहीं करूँगा। लेकिन उसने मुझ से अकेले में यह भी कहा कि चाचा जी, मैं विवाह करूँगा ही नहीं। करूँगा तो उसी से करूँगा। उस पत्र को वह अपने से अलहदा नहीं करता है। और मैं देखता हूँ कि उस ब्रजनन्दन का ठाट-बाट आप ही आप कम होता जा रहा है। सादा रहने लगा है और अपने प्रति सगर्व बिल्कुल भी नहीं दीखता है। पहिले विजेता बनना चाहता था और ढोंग की बातें करता था, अब विनयावनत दीखता है और आवश्यकता से अधिक बात नहीं करता। एक बार एक प्रदर्शिनी में मिल गया। मैं तो देख कर हैरत में रह गया। ब्रजनन्दन एकाएक पहचाना भी न जाता था। मैंने कहा—"ब्रजनन्दन, कहो क्या हाल है।"

उसने प्रणाम करके कहा—"अच्छा है।"

वह मेरे घर पर भी आया। पत्नी ने उसे बहुत प्रेम किया। और बहुत-बहुत बधाइयाँ दीं कि ऐसी लड़की से शादी होने से चलो भगवान् ने समय पर रक्षा कर दी। जाह्नवी नाम की लड़की की एक-एक बात बिरजू की चाची को मालूम हो गई है।

वे बातें—ओह ! कुछ न पूछ विरजू भैया ! मुँह से भगवान किसी की बुराई न करावे। लेकिन···"

फिर कहा—"भई, अब बहू के बिना काम कब तक हम चलावें, तू ही बता। क्यों रे अपनी चाची को बुढ़ापे में भी तू आराम नहीं देगा? सुनता है कि नहीं ?"

व्रजनन्दन चुपचाप सुनता रहा।

पत्नी ने कहा—"और यह मुझे हो क्या गया है? अपने चाचा की बात तुझे भी लग गई है क्या? न ढङ्ग के कपड़े, न दीन की बातें! उन्हें तो अच्छे कपड़े-लत्ते सोभते ही नहीं हैं। तू क्यों ऐसा रहने लगा है, रे?"

व्रजनन्दन ने कहा, "कुछ नहीं चाची! और कपड़े धर रक्खे हैं।"

अकेले पाकर मैंने भी उससे कहा—"व्रजनन्दन, बात तो सही है। अब शादी करके काम में लगना चाहिये। और घर बसाना चाहिए। ठीक है कि नहीं ?"

व्रजनन्दन ने मुझे देखते हुए बड़े-बूढ़े की तरह कहा—"अभी तो बहुत उमर पड़ी है चाचा जी।"

मैंने उस बात को ज्यादा नहीं बढ़ाया।

अब खिड़की के पार इतवार को, सोमवार को, मङ्गलवार को और आज बुधवार को भी सवेरे ही सवेरे छत पर नित-नित रोटी के मिस कौवों को पुकार कर बुलाने, खिलाने वाली यह जो लड़की देखता रहा हूँ, क्या वह जाह्नवी है? जाह्नवी

को मैंने एक ही बार देखा है, इसलिए मन को कुछ निश्चय नहीं होता है। क़द इतना ही था; लावण्य शायद उस जाह्नवी में कुछ अधिक रहा होगा। पर यह वह नहीं है, जाह्नवी ही नहीं है, ऐसा दिलासा मैं मन को तनिक भी नहीं दे पाता हूँ। सवेरे ही सवेरे इतने कौवे बुला लेती है कि खुद दीखती ही नहीं। काले-काले वे ही वे दीखते हैं। और वे उसके चारों ओर ऐसी छीन-झपट सी करते हुए उड़ते रहते हैं मानो बड़े स्वाद से बड़े प्रेम से चोंथ-चोंथ कर उसे खाने के लिये आपस में बदा-बदी मचा रहे हों। पर उनसे घिरी वह कहती है—"आओ कौवो, आओ।" जब वे आ जाते हैं तो गाती है।

"कागा चुन-चुन खाइयो·····"

और काग जब इकट्ठे के इकट्ठे काँव काँव करते हुए चुन-चुन कर खाने लगते हैं और फिर भी खाँउँ खाँउँ करते उससे भी ज्यादा माँगने लगते हैं तब वह चीख़ मचा कर चिल्लाती है—

"कि ओ रे कागा, नहीं, ये—
"दो नैना मत खाइयो,
मत खाइयो
पीव मिलन की आस।"

मास्टर साहब

(श्री चन्द्रगुप्त)

न-जाने क्यों बूढ़े मास्टर रामरतन को कुछ अजीब तरह की थकान-सी अनुभव हुई और सन्ध्या-प्रार्थना समाप्त कर वे खेतों के बीचों-बीच बने उस छोटे से चबूतरे पर बिछी एक चटाई पर ही लेट रहे। सन् १९४७ के अगस्त मास की एक चाँदनी रात अभी अभी शुरू हुई थी। मास्टर साहब ने जब सन्ध्या-प्रार्थना शुरू की थी, तो आकाश पर छितराये बादलों में अभी गहरी लाली विद्यमान थी; परन्तु सन्ध्या समाप्त कर जब उन्होंने अपनी आँखें खोलीं तो सब तरफ चाँदनी व्याप्त हो चुकी थी और आकाश के एक भाग में छाए हल्के-हल्के बादल रुई के बंडलों की तरह सफेद दिखाई देने लगे थे। पिछले दिनों बहुत गर्मी रही थी— मौसम की भी दिमाग़ की भी। मास्टर साहब का यह कस्बा जैसे दुनिया के एक किनारे पर है। नजदीक-से-नजदीक का रेलवे-स्टेशन वहाँ से ३० मील की दूरी पर है। फिर भी पिछले कितने ही दिनों से अमंगल पूर्ण खबरें दिन-रात सुनने में आ रही हैं। सुना जाता है, मुसलमान हिन्दुओं और सिक्खों के खून के प्यासे बन गए हैं। दुनिया तबाह हो रही है। घर-बार लूटे जा रहे हैं। सब तरफ मार-काट जारी है। मास्टर साहब के गांव में अभी तक

अमन-चैन जारी है, फिर भी वहाँ के वातावरण में एक गहरा त्रास स्पष्ट छाया हुआ है।

चाँदनी रात की ठंडी हवा और चारों तरफ गहरा सन्नाटा। मास्टर साहब को जैसे राहत-सी मिली। थके हुए दिमाग़ का बोझ उतर-सा गया। ऊँह ये सब झूठी अफ़वाहें हैं! कभी ऐसा भी हो सकता है! भला, जब मैंने किसी का कुछ भी नहीं बिगाड़ा, तो किसी को कुत्ते ने काटा है कि वह मेरे खून तक का प्यासा बन जाय! अपनी जिन्दगी के ६५ बरस मैंने यहाँ बिताए हैं। मेरे शागिर्दों की संख्या हज़ारों में है। हिन्दू, सिक्ख, मुसलमान सभी को मैंने एक समान दिलचस्पी से पढ़ाया है। कोई एकाएक मेरा दुश्मन क्यों बन जायगा? मगर यह पाकिस्तान! मास्टर साहब की दिमाग़ी राहत को जैसे एकाएक ठोकर लग गई! हूँ, यह पाकिस्तान तो अब सर पर ही आने वाला है! मास्टर साहब के शरीर-भर में एक कँपकँपी-सी छूट गई।

माँ प्रकृति ने जैसे अपने इस बूढ़े पुत्र को एक प्यार-भरी थपकी दी। हवा की ठंडक और भी बढ़ गई और चाँदनी का उजलापन और भी चमक आया। मास्टर साहब को सहसा अनुभव हुआ, यह तो वही दुनिया है, जिसे देखने का अभ्यास उन्हें बचपन से है। वही खेत हैं जिन्हें उनके बाप-दादा उनके लिए छोड़ गए हैं। वही आसमान है वही धरती है और वह सदैव ताजी बनकर बहने वाली हवा है। आखिर पाकिस्तान इन सब को तो नहीं बदल डालेगा। ये सब तो उसी तरह

कायम रहेंगे। आख़िर पाकिस्तान में भी इन्सान की मिल्कीयत रहेगी, काम धन्धे रहेंगे, ज़बान रहेगी, लिखना-पढ़ना रहेगा। फिर मेरे जैसा फ़ारसीदाँ पाकिस्तान वालों को क्योंकर नागवार गुज़रेगा? पाकिस्तान बनेगा, तो यह सब-कुछ बदल थोड़े ही जायेगा। आख़िर कोई बाहर के लोग तो आकर पाकिस्तान को नहीं बसायेंगे। पाकिस्तान एक दिन बनना ही था। चलो, वह हमारी ज़िन्दगी में ही बन गया।

रात का सन्नाटा और भी गहरा हो गया और अपनी इस छोटी-सी ज़मींदारी के इस अत्यन्त सुरक्षित भाग पर लेटे-लेटे मास्टर साहब को नींद आ गई। प्रभात की लाली आसमान पर दिखाई देने लगी ही थी कि मास्टर साहब की नींद टूट गई। सहसा उन्होंने पाया कि वातावरण अभी तक एकदम नीरव है। यहाँ तक कि चिड़ियों की चहचहाहट भी सुनाई नहीं दी। मास्टर साहब उठ खड़े हुए और तेज़ी से गाँव की ओर चल पड़े।

एक ख़ास तरह की मनहूसियत जैसे उन्हें चारों ओर फैली हुई दिखाई दे रही थी। राह में कितने ही मुसलमान किसानों के कच्चे कोठे हैं। उन कोठों के आसपास कितने ही बच्चों और औरतों को उन्होंने देखा। उन में से अधिकांश से वे परिचित थे, परन्तु आज सभी उन्हें कुछ बदले हुए-से प्रतीत हो रहे थे। एक गहरी चुप्पी जैसे पुकार-पुकार उन्हें चेतावनी दे रही थी कि महाकाल की बेला सिर पर है। राह के किसानों के चेहरे

ज़रूर गम्भीर थे, परन्तु मास्टर साहब से किसी ने कुछ भी नहीं कहा। वे तेजी से अपने गाँव की ओर बढ़ते गए।

यह दूर पर क्या दिखाई दे रहा है? मास्टर रामरतन सहसा चौंके पड़े। जिस तरफ उनका गांव है, उधर ही सुदूर क्षितिज पर बहुत बड़े पैमाने पर यह काला-काला क्या दिखाई दे रहा है! यह बादल हर्गिज़ नहीं है! मास्टर साहब की चाल और भी तेज़ हो गई। अब उन्हें सुदूर क्षितिज पर लाली भी दिखाई देने लगी। सुबह-सुबह पश्चिम में दिखाई देने वाली यह लाली स्पष्टतः किसी बहुत बड़े अमंगल की सूचक थी। बूढ़ा मास्टर अपने परमात्मा से प्रार्थना करने लगा : और चाहे जो कुछ हो, वह अग्निकांड उसके गाँव में न हुआ हो। मगर यह तो स्पष्ट ही है कि उनका गाँव जल रहा है। बूढ़े मास्टर ने अपनी प्रार्थना की मांग और भी कम कर दी : चाहे उनका सारा गांव जलकर भस्म हो जाय, उनके गांव के सभी निवासी सही-सलामत बच जायँ।

मास्टर साहब अब दौड़ने लगे। बहुत जल्द वे पसीना-पसीना हो गए, पर उनकी दौड़ जारी रही। कुछ दूर पहुँचकर एक अत्यन्त त्रासदायक महानाद-सा भी उन्हें सुनाई देने लगा, जैसे सैकड़ों नर-नारी एक साथ हाहाकार कर रहे हों।

बूढ़े मास्टर ने अपनी प्रार्थना की माँग और भी कम कर दी। चाहे कितने ही लोग कत्ल भी क्यों न हो जायँ, उनके गांव की किसी लड़की का अपमान न होने पाए।

और तभी सहसा चिन्ता के एक बड़े तूफान ने उनके हृदय को एक सिरे से दूसरे सिरे तक झकझोर कर रख दिया। ओह, उनके परिवार की सब स्त्रियाँ और बच्चे गांव में ही थे। और उनकी लाड़ली पोती निर्मला, जिसकी पन्द्रहवीं वर्ष गांठ अभी ५ ही दिन हुए बीती है!

मास्टर साहब के हृदय की सम्पूर्ण सदभिलाषाएँ खुद-ब-खुद अपनी लाड़ली पोती निम्मो के चारों ओर केन्द्रित हो गईं! ओ मेरे परमात्मा, ओ मेरे देवता, यह तेरी अपनी लज्जा का सवाल है! मेरी निम्मो को तू अपने पास भले ही बुलाले, उसकी बेइज्जती मत होने देना!

पूरब दिशा में अग्नि का पुंज सूरज निकल आया। मास्टर साहब अब अपने गांव के काफी नजदीक पहुँच गए थे। अब वे अकेले भी नहीं थे। उनके गाँव के कितने ही हिन्दू और सिख खेतों में छिपे या गांव की ओर से भाग कर आते हुए उन्हें दिखाई दिये। मास्टर साहब पसीने से तर ब-तर हो गए थे। राह की धूल उस पसीने से लग कर वहीं द्रवीभूत होने लगी थी। इस बहती मिट्टी से उनका मुँह, कपड़े और बाल बुरी तरह भर गए। फिर भी जिस किसी तरह वे दौड़ते चले गए और अपने गांव की सीमा में आ पहुँचे।

मास्टर साहब ने आवाज दी—'नत्थूसिंह, मेरे घर का क्या हाल है?'

नत्थूसिंह उनका पड़ोसी था। वह इतना उदास दिखाई दे

रहा था, जैसे उसकी निर्जीव देह-मात्र चल-फिर रही हो। नत्थू सिंह ने मुँह से कुछ नहीं कहा, सिर्फ़ इस तरह सिर हिला दिया, जिससे उसकी असमर्थता प्रकट होती थी। मास्टर साहब ने कितने ही लोगों को पुकारा, पर जवाब कहीं से नहीं मिला। कुछ ही क्षणों के बाद मास्टर साहब अपने मोहल्ले के सामने विद्यमान थे। राह-भर में कितनी ही लाशों को लांघकर मास्टर साहब इस जगह तक पहुँच पाए।

मास्टर साहब का मोहल्ला पक्के मकानों का था। इससे आग वहाँ बहुत फैलने नहीं पाई थी। किनारे के कुछ मकान जरूर जल गये थे और अब उनमें से गहरा नीला काला धुआं उठ रहा था। पर मास्टर साहब का अपना मकान जरा भी नहीं जलने पाया था और न अब उधर आग के बढ़ने का खतरा ही था। मास्टर साहब लपककर घर के सामने पहुँचे। गली-भर में एक भी आदमी उन्हें दिखाई नहीं दिया। सब तरफ़ सन्नाटा था—मौत का गहरा सन्नाटा! कुत्ता, बिल्ली या कोई भी जिन्दा प्राणी गली में नहीं था। आसमान में परिन्दे तक नहीं थे। सिर्फ दूर पर जल रहे मकानों की ज्वालाएँ एक भयोत्पादक आवाज़ उत्पन्न कर रही थीं।

क्षण-भर को मास्टर साहब ठिठक गए। जो कुछ हो बीता है, उसका आभास उन्हें मिल गया था। फिर भी यह उम्मीद तो थी कि घर के लोग शायद बच गये हों। अगर यही उम्मीद कायम रह सकती तो! क्षण-भर के बाद मास्टर साहब ने सहमे-

सहमे से आवाज दी—'निम्मो !'

कोई जवाब नहीं आया।

मास्टर साहब ने पुकारा—'निम्मो की दादी ! बेटा सत्ती ; बेटा प्रकाश ; बेटी सतवती !'

कोई जवाब नहीं आया।

मास्टर साहब धीरे-धीरे घर के भीतर प्रविष्ट हुये। घर के सब दरवाजे चौपट खुले पड़े थे। अन्दर जैसे कोई झाड़ू-सा दे गया था। कहीं कोई चीज नहीं थी। गुंडे सभी कुछ उठा ले गए थे। भीतर जाते ही एक तरफ बैठक है। सब खाली। उसके बाद एक खुला सहन है। इस सहन के दाहिनी ओर दो कमरे हैं, जो सर्दियों में परिवार के सोने के काम आते हैं। दोनों कमरे एकदम ख़ाली पड़े हैं। सहन की बाईं ओर एक दरवाजा है, उसमें होकर एक और छोटे सहन में जाना होता है, जहाँ घर के जानवर बाँधे जाते हैं—एक बरामदा, एक कमरा जानवरों के लिये। इस वक्त सब खाली हैं। कमरे के पिछवाड़े में जरा सी जगह खाली है, जिसके चारों ओर ऊँची दीवारें हैं। यहाँ मास्टर साहब की बूढ़ी घरवाली ने तुलसी के कुछ घने झाड़ बो रखे हैं और उनके पास एक चबूतरे पर वे नियमित रूप से भगवान की पूजा करती हैं। धड़कते दिल से मास्टर साहब इस झाड़ तक आ पहुँचे।

ओह, मेरे भगवान ! यह सब क्या सच है ! तुलसी के उस झाड़ के नीचे नन्हें सत्ती और नन्हें प्रकाश के क्षत-विक्षत

निष्प्राण देह पड़े हैं, मानो अनजान शिशु डरकर माँ तुलसी की गोद में आसरा पाने आये हों! उधर चबूतरे पर माँ-बेटी—मास्टर साहब की जीवन-संगिनी अपनी बड़ी लड़की से चिपक कर—पड़ रही हैं निष्प्राण, निस्पन्द।

क्षण-भर के लिए मास्टर साहब को प्रतीत हुआ, जैसे वे स्वयं निष्प्राण हो गये हैं; उनके हृदय की सम्पूर्ण अनुभूति सन्न होकर एकदम निष्क्रिय बन गई है। परन्तु अभी तो मास्टर साहब ने सभी कुछ नहीं देखा! उनकी लाड़ली निम्मो कहाँ है?

बूढ़े मास्टर की बेहोश होती हुई चेतना खुद-ब-खुद लौट आई! वे अत्यन्त करुण स्वर में चीख उठे—'निम्मो, निम्मो, निम्मो!'

कहीं से कोई जवाब नहीं मिला।

+ + +

उसके बाद घण्टों की मेहनत से मास्टर रामरतन रात के महाप्रलय के सम्बन्ध में जो कुछ जान पाए, उसका सार इतना ही था कि चाँद डूबने से घण्टा-भर पहले मुसलमानों की एक बहुत बड़ी संख्या ने गाँव के उस भाग पर हमला कर दिया, जिसमें हिन्दू और सिख रहते थे। यह हमला इतना अचानक और इतने जोर से हुआ कि उसका मुकाबला किया ही नहीं जा सका। आक्रमणकारी लोगों में बहुत बड़ी संख्या आस-पास के तथा दूर से आए मुसलमान किसानों की थी; परन्तु यह कह

सकना कठिन है कि गाँव के मुसलमान भी उसमें शामिल थे या नहीं। भयंकर मार-काट और लूट-मार के बाद गुण्डे लोग गाड़ियों में भरकर लूटा हुआ माल अपने साथ ले गये हैं। गाँव की बीसों जवान लड़कियों को भी वे अपने साथ लेते गये हैं। वे लोग ही बच पाए, जो रात के वक्त घरों से भाग कर खेतों में जा छिपे या दूर भाग गये। वे सब लोग अब एक जगह इकट्ठे कर लिये गए हैं और उन्हें नये हिन्दोस्तान में भेजने का इन्तज़ाम किया जा रहा है। मास्टर साहब के एक पड़ोसी ने इतना ही बताया कि अब वह उनके घर के सामने से होकर भागा जा रहा था, तो घर के भीतर से भयंकर हाहाकार सुनाई दे रहा था। निम्मो के सम्बन्ध में सभी का यह ख़्याल था कि गुण्डे ज़रूर उसे अपने साथ उठा ले गए हैं।

बूढ़े मास्टर की परेशानी की सीमा न रही। जन्म भर के उस अत्यन्त ईश्वरपरायण वृद्ध की अन्तरात्मा ने अपने उस अज्ञात अराध्य देव से पूछा—'मेरे किस अपराध की सज़ा इस छोटी सी, मासूम-सी बच्ची को मिली है, ओ मेरे देवता ?'

अपनी जीवन-संगिनी, बड़ी विधवा पुत्री और दोनों पोतों को एक साथ खोकर बूढ़े मास्टर के लिये जिन्दगी में क्या दिलचस्पी बाकी रह सकती थी ! अच्छा होता कि वे भी साथ ही मर जाते। पर मास्टर अब यह बात सोच भी नहीं सकते थे। उनकी लाड़ली पोती निम्मो जिन्दा है और वह गुण्डों के हाथ में है।

अपना जीवन ध्येय चुनने में मास्टर साहब को सोचने की आवश्यकता नहीं पड़ी। वह तो जैसे आसमान पर लिखा हुआ सा उनके सामने आ गया। बूढ़े मास्टर ने निश्चय किया कि वे जिस किसी तरह निम्मो की तलाश करेंगे, किसी न किसी तरह उसके पास पहुँच जायँगे और—? साफ़ था कि बूढ़ा उसे बचा नहीं सकेगा। तब ? निम्मो के पास पहुँचकर बूढ़ा दादा अपने हाथों अपनी पोती की हत्या करेगा और उसके बाद खुद भी मर जायगा।

सांझ तक गाँव के भले मुसलमानों की मेहनत से वे सब हिन्दू और सिक्ख एक धर्मशाला में एकत्र कर दिये गए, जो प्रभात के महाप्रलय से बाकी बच रहे थे। थाने से दो-चार सिपाही भी उनकी देखभाल के लिये आ पहुँचे और उन्हें जिले की ओर ले जाने का प्रबन्ध किया जाने लगा। परन्तु मास्टर रामरतन इन लोगों में नहीं थे। न जाने वे किस वक्त चुपचाप गाँव से खिसक गए।

गाँव छोड़ने के तीन दिनों के भीतर ही मास्टर रामरतन का जैसे कायाकल्प हो गया। मुंह की झुर्रियां और भी गहरी हो गईं, आँखें एक तरह से गढ़े में चली गईं और उनके नीचे कालिमा-सी पुत गई। ये तीन डरावने दिन उनकी ६५ साल की ज़िन्दगी पर जैसे पूरी तरह छा गए। मास्टर साहब का चेहरा इतना गमगीन और इतना गम्भीर दिखाई देने लगा, जैसे वे अपनी सारी ज़िन्दगी में कभी न हँसे हों और न मुस्कराए ही हों।

किसी अपरिचित के लिये यह पहचान सकना अब आसान नहीं था कि मास्टर साहब हिन्दू हैं या मुसलमान। बेतरतीबी से बढ़े हुए और बेपरवाही से बिखरे हुए उनके धूलि-धूसरित बालों ने उनकी आकृति पर फकीरी की छाया डाल दी थी—एक फकीर जो न हिंदू होता है न मुसलमान। वह फकीर बन ही तभी सकता है, जब वह इस दुई को, इस भेद-भाव को, एकदम भूल जाय।

आस-पास की कितनीं ही बस्तियों और गांवों की खाक छानते-छानते मास्टर साहब को यह मालूम होगया कि उनके गाँव पर आक्रमण करने वालों का मुखिया एक पूरे गाँव का ज़मींदार गुलामरसूल था और यह भी कि वह कितनी ही हिन्दू लड़कियों को अपने साथ घर ले गया है।

राह की एक सुनसान पगडंडी पर चलते-चलते सहसा बूढ़े मास्टर को अनुभूति हुई कि वे अपने लक्ष्य के बहुत नजदीक आ पहुँचे हैं। इस अनुभूति के साथ-ही-साथ उनका हाथ जैसे खुद-ब-खुद जेब में पहुँच गया, जहाँ एक चाकू संभाल कर रखा गया था। बूढ़े मास्टर ने चारों ओर एक खोजती निगाह डाली और जब दूर तक उन्हें और कोई मानव-आकृति नहीं दिखाई दी, तो काँपते हाथों से उन्होंने वह चाकू जेब से बाहर निकाल लिया। चलते-चलते बाएँ हाथ में चाकू पकड़ कर दाहिने हाथ से उसे खोला और बिना रुके ही दाहिने हाथ की तर्जनी उँगली से उसकी धार की परीक्षा की। बूढ़े का हाथ बुरी तरह से काँप रहा

था। इससे उँगली की मोटी चमड़ी जरा-सी कट गई और उस पर खून चमक आया। चार दिनों में पहली बार मास्टर को उत्साह की अनुभूति हुई। एक अजीब तरह की उत्तेजना उनके थके हुए मन पर छा गई। हाँ, मैं अपना काम बखूबी कर सकूँगा। इस तेज चाकू से एक हत्या और उसके बाद आत्महत्या! चाकू बन्द करके उन्होंने जेब में डाल लिया और डगमगाते पैरों की गति स्वयमेव तेज हो गई।

गुलाम रसूल का घर तलाश करने में मास्टर साहब को देर नहीं लगी। कुल मिला कर २५-३० मकान थे और उनमें सब से बड़ा और सबसे ऊँचा मकान जमींदार का था। उन्होंने मकान के दरवाजे पर दस्तक दी। क्षण-भर में मकान के सहन का दरवाजा खुल गया और एक बच्चे ने आकर पूछा—'क्या चाहिये ?'

मास्टर साहब सहसा चौंक गए। बच्चे की उम्र उनके चार साल के सत्ती से अधिक नहीं थी। तो अभी तक दुनियां में मासूम बच्चे मौजूद हैं! इस महान् हत्यारे के घर उनका स्वागत एक बच्चा करेगा, इसकी उम्मीद उन्हें कदापि नहीं थी। मास्टर साहब के झिझक-भरे मौन पर वह बच्चा चकित होने वाला ही था कि उन्होंने कहा—'मियाँ गुलाम रसूल घर पर हैं ?'

'कौन, अब्बा ?'

'हाँ, तुम्हारे अब्बा।'

इसी वक्त भीतर से एक नारी-कण्ठ सुनाई दिया—'कौन आया है, बेटा हमीद ?'

बच्चे ने जवाब दिया—'कोई फकीर है अम्मी, ! अब्बा को पूछता है।'

बड़े दरवाजे के दाहिनी ओर घर की बैठक थी। क्षण-भर बाद बैठक का दरवाजा खुल गया और बड़ी उम्र के एक अन्य लड़के ने मास्टर साहब से भीतर चलने को कहा। बैठक में कुछ मोढ़े रखे थे। एक तरफ एक पलंग पड़ा हुआ था। मास्टर साहब चुपचाप एक मोड़े पर जा बैठे।

वह लड़का बड़ी हैरानी से मास्टर साहब की ओर देख रहा था। उनके बैठ जाने पर उसने पूछा—'चाचा से क्या कह दूँ ? वे साथ के मकान में गए हैं। मैं अभी जाकर उन्हें बुला लाता हूँ।'

मास्टर साहब इस प्रश्न के लिये तैयार नहीं थे। फिर भी उनके दिमाग़ ने उन्हें धोखा नहीं दिया। मास्टर साहब आज सुबह नूरपुर से इस गाँव की ओर चले थे। उन्होंने कह दिया—'चचा से कहना नूरपुर से पैगाम आया है।'

लड़का चला गया और मास्टर साहब को जैसे जरा सोच सकने की फ़ुरसत मिली। यहाँ तक तो सब ठीक है! अबआगे क्या होगा? गुलामरसूल अभी आता होगा। परन्तु वे अपनी निम्मो को उससे मांग कैसे सकेंगे ? कोई बहाना तलाश करने से शायद काम बन जाय। यह तो साफ ही है कि सब लोग

उन्हें मुसलमान समझने लगे हैं। क्यों न वे इसी बात का फायदा उठावें। वे कह सकते हैं कि नूरपुर का जमींदार कुछ लड़कियाँ चाहता है और वह उनके लिए अच्छी कीमत भी देने को तैयार है। इसी बहाने से वे सब लड़कियों को देखने की इच्छा प्रकट कर सकते हैं। और जहाँ तक भेद खुलने का सवाल है, उन्हें उसकी चिन्ता ही क्या है। आखिर वे तो अपनी जान देने ही यहाँ आए हैं। अगर उनकी चाल असफल हो गई, तो वे गुलाम-रसूल पर तेज चाकू से हमला तो कर ही सकते हैं। जो कुछ हो जाय, उतना ही सही। निकट-भविष्य में उन्हें क्या करना होगा, इसका निश्चय उन्होंने अनायास ही कर लिया।

और यह निश्चय कर लेने के साथ-ही साथ उन्हें ध्यान आया कि उनका अन्त समय सिर पर है। कुछ ही क्षणों के भीतर वे अपने परिवार से जा मिलेंगे, अपने भगवान के चरणों में जा पहुंचेंगे। मास्टर साहब मन-ही-मन राम-नाम का जाप करने लगे।

और सहसा एक अत्यन्त अप्रत्याशित घटना घटित हो गई। जो छोटा बच्चा पहले-पहल मास्टर साहब का स्वागत करने दरवाजे पर उपस्थित हुआ था, उसी हमीद का हाथ पकड़ कर सहसा निम्मो बैठक के दरवाजे पर आ उपस्थित हुई। वृद्धा मास्टर सहसा चीख उठा—'निम्मो !'

दरवाजे पर से ही निम्मो चिल्लाई—'दादा !'

और उसी क्षण वृद्धे रामरतन ने अपनी १५ वर्ष की पोती

को गोद में उठा लिया। न-जाने इतनी शक्ति बूढ़े मास्टर में कहाँ से आ गई! भावों का पहला तूफ़ान निकल जाने के बाद भी मास्टर को यह समझ में नहीं आया कि वे इस हालत में क्या करें! जेब में मौजूद तेज चाकू की उपस्थिति का ज्ञान उन्हें अब भी था, परन्तु जैसे चाहते हुए भी वे चाकू निकाल नहीं पाए। बूढ़े के आश्चर्य की सीमा न रही, जब उन्होंने पाया कि जैसे बच्चा हमीद निम्मो का साथ ही नहीं छोड़ना चाहता। मास्टर साहब प्रेम का यह तूफान देखकर वह सहम-सा गया है और तब भी उसका दाहिना हाथ निम्मो के बाँएँ हाथ को पकड़े हुए है।

मास्टर साहब अभी तक सकते की-सी हालत में थे कि सहसा गली में शोर मच गया—'काफिर, काफिर!' मास्टर साहब अभी तक अपनी जेब से चाकू निकाल तक नहीं पाये थे कि दो जवान मुसलमानों ने उन्हें जकड़ कर पकड़ लिया। घर की एक बूढ़ी औरत ने घर में काफिर की मौजूदगी की सूचना बहुत शीघ्र मोहल्ले भर को दे दी थी।

और उसी वक्त गालियां बकते हुए गुलामरसूल ने अपनी बैठक में प्रवेश किया। मुमकिन था कि अपने नये कैदी को देखते ही गुलामरसूल उसे मारना-पीटना शुरू कर देता; परन्तु कमरे में मौजूद सभी लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब बूढ़े मास्टर पर निगाह पड़ते ही वह जैसे अचम्भे में भर कर चिल्ला उठा—'ओ, मास्टर साहब!

जिन दो नौजवानों ने मास्टर को पकड़ रखा था, उनकी जकड़ एकाएक कम हो गई। गुलामरसूल क्षण-भर के अन्तर से फिर चिल्लाया—'ओ, मास्टर साहब आप यहाँ कैसे ?'

और वृद्धा मास्टर, जो इस अप्रत्याशित घटनाचक्र के प्रवाह में एकदम मूक और एकदम संज्ञाहीन-सा बन गया था, सहसा फफक कर रो उठा। दोनों जवानों ने मास्टर को अपनी पकड़ से मुक्त कर दिया और निम्मो अपने दादा से जा चिपकी।

गुलामरसूल ने बूढ़े मास्टर को सान्त्वना देने का प्रयत्न किया। उसने कहा—'मास्टर साहब, बचपन में जब हम रोया करते थे, तो आप हमें चुप कराया करते थे, और आज.......' कहते-कहते सहसा गुलामरसूल चुप हो गया। न जाने किस शक्ति ने उसे यह अनुभूति प्रधान कर दी कि उसे यह सब कहने का अधिकार नहीं रहा।

बात बदलने की गरज से गुलामरसूल ने कहा—'यह लड़की आपकी क्या लगती है, मास्टर साहब ?'

बूढ़े मास्टर ने सिसकते हुए कहा—'यह मेरी पोती है।'

गुलामरसूल ने कहा—'तभी !' और वह चुप हो रहा।

बूढ़ा मास्टर निम्मो को छाती से लगा कर अब भी धीरे-धीरे सिसक रहा था। उसने कोई सवाल नहीं किया। क्षण-भर बाद गुलामरसूल ने खुद ही कहा—'शायद तभी चार ही दिनों में हमीद इसे अपनी सगी बहन समझने लगा है।' और तब आस-

मान की ओर ताककर उसने कहा'—खुदा का शुक्र है।'

मानवीय सहानुभूति का हल्का-सा आसरा पाकर बूढ़े मास्टर के हृदय की सम्पूर्ण व्यथा आँखों की राह बह चली, जैसे गरमी पाकर बरफ पिघलती है।

कुछ क्षणों तक गुलामरसूल चुपचाप मास्टर साहब की ओर देखता रहा और उसके बाद धीरे-धीरे आगे बढ़ कर उसने बूढ़े मास्टर को अपनी छाती से लगा लिया। मास्टर साहब ! ने कोई प्रतिरोध नहीं किया। गुलामरसूल ने बहुत धीमे शब्दों में कहा 'धीरज से काम लो मास्टर साहब ! तुम्हें अब कोई भय नहीं है ! निम्मो के साथ मेरी हिफाजत में तुम चाहे जहाँ चले जा सकोगे।'

: तेरह :

एकांकी तारा

श्री 'अज्ञेय'

ऐसा भी सूर्यास्त कहाँ हुआ होगा.............उस पहाड़ की आड़ में से सूर्य का थोड़ा-सा अंश दीख पड़ रहा है, और उसके ऊपर आकाश में बहुत दूर तक फैली हुई एक लम्बी वारिदमाला लाल-लाल दीख रही है, मानो प्रकृति के बालों की लाल-लाल लटें............

या जैसे सूर्य को फाँसी लटका दिया हो, और किसी अज्ञात कारण से फाँसी की रस्सी खून से रंगी गई हो। प्रतीची की विशाल कोख भी तो मानो सूर्य को लीले जा रही हो।

सूर्यास्त हो गया है; पर वह स्त्री—या युवती—उसी प्रकार निश्चल खड़ी स्थिर दृष्टि से पश्चिमीय आकाश को देख रही है आसपास के सुरम्य दृश्यों की ओर सामने बहती हुई छोटी सी पहाड़ी नदी के स्वच्छ अन्तर की ओर, सामने वाले पहाड़ की तलेटी से आती हुई बीन की अत्यन्त कम्पित क्षीण ध्वनि की ओर, उसका ध्यान नहीं जाता। वह अत्यन्त एकाग्र हो, समाधिस्थ हो, पश्चिम आकाश को देख रही है, मानो इसी पर उसका जीवन निर्भर करता है, मानो वह आकाश में बिखरे हुये

रक्त को पी कर शक्ति प्राप्त करना चाहती है; किन्तु संजीवन न पाकर विष ही पाती है, फिर भी छोड़ नहीं सकती, मूर्छित भी नहीं होती।

सान्ध्य आकाश में थोथे सौन्दर्य के अतिरिक्त कुछ नहीं होता; किन्तु जो अपने हृदयों में ही एक काल्पनिक संसार बसाये हुए उसे देखने आते हैं, जिनके अन्दर थिरकती हुई, किन्तु अस्फुट, प्रसन्नता होती है, या तो भीतर-ही-भीतर किसी गहरी वेदना से झुलस रहे होते हैं, उनकी तीखी अनुभूतियाँ इस आकाश में अपने सारे अरमानों का प्रतिबिम्ब पा लेती हैं, उनके लिये संसार की सम्पूर्ण विभूतियाँ, कोमलतम भावनाएँ, उसमें केन्द्रित हो जाती हैं—उस प्रदोष के आकाश में।

वह देख रही है, और देखती जाती है। इस दृश्य को उसने सैकड़ों बार देखा है, उन दिनों में भी, जब उसमें उस थोथे सौन्दर्य के अतिरिक्त कुछ न था (उसके जीवन में भी ऐसे दिन थे—वह जो आज समझती है कि उस पर काल का बोझ अनगिनत वर्षों से पड़ा हुआ है!) और उन दिनों में भी, जबकि वह उसमें संसार की समग्र व्यथा और वेदना का प्रतिबिम्ब देख पाई है; पर वेदना का चिन्तन भी मदिरा की तरह है, ज्यों-ज्यों उन्माद बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसकी लालसा तीखी होती जाती है।

वह उस उन्माद के पथ पर बहुत दूर अग्रसर हो गई है। एक परदा उसकी आंखों के आगे छा गया है, और एक सूर्यास्त

के छायापट के आगे। पर इन तीनों पटों की आड़ से भी उसकी तीव्र दृष्टि आकारों को भेदती हुई चली जा रही है, वह देख रही है, पढ़ रही है जीवन के नग्न सत्यों को।

इस भीषण शिक्षा से चौंककर कभी-कभी उसकी दृष्टि एक दूसरी ओर फिरती है—उसके हाथ की ओर, जिसमें वह एक छोटा-सा पुर्जा थामे हुए है। वह पढ़ना नहीं जानती ; पर आह! कितनी तीव्र वेदना से कितनी मर्मभेदी उग्रता से, वह उस पुर्जे पर लिखी हुई दो चार पंक्तियों को देखती है, मानो उस के नेत्रों की ज्वाला से ही पत्र का आशय जगमगा कर उसके हृदय में समा जायगा।

वह पढ़ना नहीं जानती; परन्तु पत्र में क्या है, वह पढ़वाकर सुन आई है—'भाई की तारीख परसों की लगी है—रात के नौ बजे···' बस इतना ही तो लिखा है।

आज ही वह परसों है—आज ही रात को तो वह नौ बजेंगे।

और फिर वह पहले की भाँति सूर्यास्त से वही शिक्षा ग्रहण करने लग जाती है।

वह है कौन ?

अपना नाम वह स्वयं नहीं जानती। जब वह बहुत छोटी थी, तब शायद उसके माता-पिता ने उसका नाम रखा था। पर जब से वह अनाथिनी हुई, जब से अपने भाई के साथ वह घर से निकल कर भीख माँगने लगी, जब एक दिन उसके भाई ने उसे शक्कर के नाम से नमक की एक फाँकी खिला दी, और

उसकी मुखाकृति देख हँस-हँसकर उसे चिढ़ाने लगा—'लूनी !' 'लूनी !' तब से वह अपना नाम लूनी ही जानती है।

जाने कैसे वे भीख माँगते-माँगते शहरों में पहुँच गये थे ? पर पहाड़ों और जंगलों में रहने वाले वे उन्मुक्त प्राणी वहाँ के वातावरण को नहीं सह सके। कुछ ही दिनों बाद भाई-बहन दोनों फिर पहाड़ों में लौट आये और गूजरों के यहाँ चरवाहे बन कर रोटी का गुजारा करने लगे। लूनी दिन भर ढोर चराया करती, और उसका भाई एक चट्टान पर बैठ कर गाया करता, या कभी-कभी कुछ पढ़ा करता। लूनी नहीं जानती कि वह पढ़ना कब और कहाँ सीख गया, कैसे सीख गया। कभी-कभी वह सवेरे नींद खुलने पर देखती कि उसके भाई का पता नहीं है—वह दो-तीन दिन तक गायब रहता, फिर कुछ नई किताबें लेकर लौट आता। पहली बार जब वह लापता हुआ, तब लूनी कितनी घबरा गई थी, पागल होगई थी; इतनी कि जब वह लौट कर आया, तब उसे उलहना भी न दे पाई, उसे लज्जित-सा देख कर उससे चिपट गई थी और खूब रोई थी।

अब वह भाई लौटकर नहीं आयेगा—अब उससे लिपट कर रोने का भी सौभाग्य लूनी को नहीं प्राप्त होगा।

उसके बाद कितने दिन बीत गये थे ! लूनी का भाई उसे अधिकाधिक प्रेम करता जाता था—पर साथ ही साथ दूर भी हटता जा रहा था, क्योंकि उसमें वह स्वयंभूति का भाव कम होता जा रहा था, और उसमें एक गम्भीर विचारवान् सचेष्ट स्निग्धता

आती जा रही थी। लूनी उसे समझती थी और नहीं समझती थी; उसका स्वागत करती थी और उससे खीझती थी।

दूर हटते-हटते एक दिन वह उस के पास से बिलकुल चला गया—दिनों के लिए नहीं वर्षों के लिए।

और जब वह लौट कर आया, तब लूनी नहीं रही थी, या स्मृति-भर रह गई थी। वह एक सम्पन्न गूजर के घर बैठ गई थी। वह उसकी विवाहिता भी नहीं थी, उसकी रखैल भी नहीं थी। लूनी ने अपने आपको मानों उसे दान कर दिया था, उसे अपना दान दे कर उसे विदा कर दिया था और स्वयं अकेली रह गई थी। कभी-कभी जब वह स्वयं अपनी परिस्थिति पर विचार करती, तब उसे जान पड़ता, उसके दो शरीर हैं, जो एक दूसरे के ऊपर खड़े हैं। एक में उसकी सम्पूर्ण आत्मा, उसका अपनापन, बसा हुआ है, और लूनी के भाई की आराधना में लीन है, और दूसरा, निचला, केवल एक लाश-भर है। कभी-कभी दुरुपयोग से या शारीरिक अत्याचार से पीड़ित होकर यह लाश ऊपर की आत्मा के पास फरियाद करती थी, तो उस में एक क्षीण व्यथा-सी जागती थी, और कोई उत्तर नहीं मिलता था...जैसे कोई दान दी हुई गाय का कष्ट देखकर यही सोचकर रह जाता है कि अब मुझे इसके कष्ट निवारण करने का अधिकार नहीं रहा।

जब वह भाई लौटकर आया, तब लूनी उसे अपने पास ठहराती तो क्या, उसके सामने भी नहीं हो सकी। वह चुप-

चाप चला गया। परिस्थिति देखकर वह लूनी की मनःस्थिति भी समझ गया था। दूसरे दिन जब लूनी अवसर पाकर अपने पुराने आसन पर—उसी चट्टान पर, जहाँ वह आज बैठी है—गई, तब उसका भाई वहाँ बैठा उसकी प्रतीक्षा कर रहा था। लूनी के हृदय के किसी अज्ञात कोने में यह भाव जागृत हुआ कि अब भी कोई उसे समझता है, और इसी भाव से स्मित होकर उसने अपना सिर भाई की गोद में रख दिया, रो भी नहीं पाई, पड़ी रह गई। भाई ने भी उसे पुकारा नहीं; थोड़ी देर चुप रहकर फिर धीरे-धीरे गाने लग गया। उस गाने का प्रवाह अर्थ के बोझ से मुक्त था, इसलिए वह लूनी के सारे मनोमालिन्य को बहा ले गया। जब उसने पुनः जागृत होकर अपनी कथा कह देने को सिर उठाया, तब कथा कहने की आवश्यकता ही नहीं रह गई थी! उसका भाई ही, न जाने क्या क्या अनोखे विचार उसे सुना गया था, जो उसने समझे नहीं, जो उसे याद ही नहीं रहे; किन्तु जिनकी छाया उसकी स्मृति के परदे के पीछे कहीं सदा नाचती रहती है।

आज वह चट्टान पर बैठी यही सब सोच रही है, और सूर्यास्त के छाया पट पर से परे देख रही है।

क्या देख रही है? उसी भाई की आज तारीख पड़ी है उसी भाई को रात के नौ बजे फाँसी होगी।

अंधेरा हो गया है। तलेटी में, चीड़ वृक्षों के झुरमुट में छिपे हुए छोटे से गाँव में कहीं आठ लड़के हैं। उस प्रशान्त

वातावरण में इतनी दूर का स्वर स्पष्ट सुन पड़ता है। लूनी के सामने पहाड़ की चोटी के पास सान्ध्य तारा अकेला जगमगा रहा है। ज्यों-ज्यों आकाश में इधर-उधर तारे प्रकट होते जा रहे हैं, त्यों-त्यों वह भी अधिकाधिक प्रोज्ज्वल होता जा रहा है, मानो अपने एकछत्र राजत्व में विघ्न होते देखकर उत्तेजित हो रहा हो, और लूनी जिस एक घटना पर चिन्तन करने आई है, उसे सोच नहीं पाती; उसका मन निरन्तर उससे भिन्न विषयों की ओर झुकता है, और उन्हीं पर जमने का प्रयत्न करता है। वह तारों की प्रतिस्पर्द्धा देखकर उसी में अपने को भुला रही है—भुलाने का प्रयत्न कर रही है।

उसका जीवन भी एक अनन्त प्रतिस्पर्द्धा ही कर रहा है—एक प्रतियोगिता, जिसमें वह अकेली ही रही है। और वह सान्ध्य तारे को देखकर सोच रही है कि इस द्वन्द्वपूर्ण संसार में भी मैं कितनी सुखी रही हूँ! प्रकृति में लड़ाई ही लड़ाई, संहार ही संहार है; किन्तु वह कितनी निर्मल है—उस पर कैसी विराट् नैसर्गिक भव्यता छाई हुई है, जिसके सौन्दर्य में हम सुखी हो सकते हैं। मैं अपने इस संसार में कितनी सुखी थी—इस छोटे से संसार में, जो उसी साम्राज्य का एक अंश है, जिसके विरुद्ध मेरा भाई लड़ता है, जिसके विनाश पर वह तुला हुआ है। वह क्यों लड़ता है? क्यों सुखी नहीं हो सकता? इसमें उसका दोष है या राज्य का? यह उसकी प्रकृति की Idiosyncracy है, या राजत्व में अन्तर्हित कोई प्रगूढ़ न्यूनता? यदि लोगों की

आत्मा अपने को सौन्दर्य से घिरा पाकर भी सुखी नहीं होती, केवल इसलिए कि उनके शरीर पर एक अपर शक्ति का बन्धन राज्य—है, तो यह उनकी कमी है, या उनके ऊपर राजत्व की ?

यह आकाश के तारों की जो असंख्य टिमटिमाहट है, वह क्या अपने अस्तित्त्व का उन्मत्त उल्लास है, या विद्रोह की जलन ?

शायद दोनों !

लूनी को याद आया, यहीं एक-दिन उसके भाई ने कहा था। उसकी स्मृति के पीछे जिन वचनों की छाया चिरकाल से नाच रही थी, जिन शब्दों का अभिप्राय वह अभी तक नहीं समझ पाई थी, वे एकाएक सामने आ गये, उसकी समझ में समा गये। उसके भाई ने कहा था—सुख या दुःख ऐसे नहीं होते। राज्य—बाह्य नियन्त्रण—सुख भी नहीं देता, दुःख भी नहीं देता। इन दोनों का उद्भव मनुष्य के भीतर छिपी किन्हीं आन्तरिक शक्तियों से होता है। राज्य तो केवल एक शक्ति का ज्ञान देता है, एक भावना को जगाता है, एक उत्तरदायित्त्व की संज्ञा को चेता देता है; फिर वह दायित्व राज्य के संघटन में पूर्ण होता है, या उसके विरोध में, इसका निर्णय करने वाली परिस्थितियाँ राज्य के नियन्त्रण में न कभी आई हैं, न आयेंगी। मुझ में—हम में—वह दायित्व जागा है; पर उसे चुकाने के लिए हमारे पास साधन नहीं, उसके पोषण के लिए सामग्री नहीं, इसीलिए हम दुःखी और अशान्त हैं, इसी लिए लड़ते

हैं और लड़ना चाहते हैं।

ये निर्णय करने वाली शक्तियाँ क्या हैं ? क्या उसके हृदय में स्वार्थ था, जिसके लिये वह लड़ा ? जिसके लिये वह आज प्राणदण्ड का भागी हुआ ?

ऐसे खिंचाव के समय इस घोर एकान्त ने लूनी को उद्भ्रान्त कर दिया था—या शायद उसकी सूक्ष्म बुद्धि को और भी पैना कर दिया था। सूर्यास्त के पट पर उसने देखा, उसके भाई के कार्यों का एक प्रमुख कारण वह स्वयं थी ! उसके भाई के आदर्शों का एक स्रोत उसके लिए सुख कामना थी ! क्यों ? क्या वह ऐसे विद्रोह द्वारा सुख प्राप्त करना चाहती थी—प्राप्त कर सकती थी ? क्या भाई को खोकर उसे सुख मिलेगा ? नहीं, पर उसके भाई ने जो कुछ देखा, वह उसके दृष्टिकोण से नहीं, अपने दृष्टिकोण से देखा—या शायद देखा ही नहीं, केवल एक चिरन्तन instinct के कारण अनुभव किया, ऐसे instinct के कारण, जो उसकी वसीयत में अत्यन्त प्राचीन काल से था—उस समय से जबकि पृथ्वी पर मानव जाति का अस्तित्व ही न था, उसके पुरखा वनमानुषों का भी नहीं, जब विवाह में जाति और वर्ण-विभेद न थे, जब 'पति-पत्नी' और 'भाई-बहन' एक ही स्वरक्षात्मक आर्थिक क्रिया की दो कलाएँ थीं।

लूनी ने भी यह सब अपनी बुद्धि से नहीं, एक instnctive चेतना से ही अनुभव किया, और यह अनुभव उसके बौद्धिक क्षेत्र में नहीं आ पाया। उसकी बुद्धि केवल एक ही निरर्थक-सी

बात कह कर रह गई—'वह विद्रोही है।' कुछ एक दिनों के बौद्धिक शासन के इस निर्णय के आगे उसकी चिरन्तन अराजकता से उत्पन्न वह पहली अनुभूति व्यक्त न हो पाई।

'वह विद्रोही है, और कुछ काल में वह मूर्तिमान विद्रोह होकर मर जायगा।'

लूनी अपनी थकी हुई, झुकी हुई, गर्दन उठाकर आकाश की ओर देखने लगी। उसकी प्रगाढ़ नीलिमा को लांघनेवाली आकाश-गंगा का धुँधलापन भी चमक रहा था। यह आकाश-गंगा है, या प्रकृति के उत्तप्त आँसू-भरे हृदय की भाप, या विश्व पुरुष के गले में फाँसी !

रात ! तारे—तारे—तारे ! लूनी के मन में एक विचार उठा, मैं इन्हें देख रही हूँ, वह भी एक वार तो इन्हें देख ही लेगा, और पहाड़ों की याद कर लेगा। तारे क्षणभर झपक लेंगे: जब जागेंगे, तब मैं इन्हें अपलक ही देख रही हूँगी; पर वह ?

एक हल्की-सी चीख या गहरी-सी साँस···

लूनी के मन की दशा इस समय ऐसी विकृत हो रही थी कि इस अशान्तिमय विचार के बीच ही में उसे अपनी छोटी-सी लड़की, नहीं, उस सम्पन्न गूजर और लूनी की लाश की सन्तान, की याद आ गई, और साथ ही उसके पिता की। वे शायद इस समय उसे खोज रहे होंगे। वेटी अनुभव कर रही होगी, आज मुझे वह पागल प्यार देने वाली कहाँ है ? और पिता सोच रहा

होगा उसका दिमाग कुछ खराब हो रहा है, वक्त-बे-वक्त जंगलों में फिरती है! जब लूनी वापस पहुँचेगी—पर लूनी तो यहीं रहेगी, वापस तो उसकी लोथ ही जायगी!—तब पिता उसकी विवशता पर अपनी भूख मिटायेगा, और बेटी अपनी विवशता के कारण भूखी रह जायगी, और—और वह, जिसके लिए लूनी आज इस चट्टान पर बैठी है, वह मर जायगा।

लूनी फिर सांध्य तारों की ओर देखने लगी, फिर उसका मन भागा—वर्तमान के विचार से दूर, भूत काल की ओर! उस दिन की ओर, जब वे शहर में भीख माँगते-माँगते उकता-कर, शहर के अन्तिम प्रदेश में आकर किसी साल के या युक-लिप्टस के वृक्ष के नीचे आ पड़ते, और पेड़ की पत्तियों में अपने परिचित वनों की सृष्टि किया करते, उस दिन की ओर, जब वे एकाएक मूक संकेत में ही एक-दूसरे के हृदय की प्यास को समझ कर, एक दूसरे का हाथ थामे शहर से निकल पड़े, अपने पहाड़ों के पथ पर; उस दिन की ओर, जब न-जाने कहाँ से पकड़ कर उसका भाई एक जल-मुर्गाबी लाया, और लूनी का करुण अनुरोध 'इसे छोड़ दो!' सुनकर क्षण भर विस्मित रह गया, और फिर उसे उड़ा कर धीरे-धीरे हँसने लगा; उस दिन की ओर, जब न-जाने कैसे दोनों को एकाएक अपने पुरुषत्व और स्त्रीत्व का ज्ञान हुआ, दोनों अपने अकेलेपन का अनुभव करके जोर से चिपट कर गले मिले, और फिर लज्जित से होकर अलग हो गये; उस दिन की ओर, जब भाई ने उल्लास भरे

स्वर में कहा—'देख लूनी, मैं कविता लिखकर लाया हूँ,' और उसके विस्मित प्रश्न का उत्तर दिये बिना ही गाने लग गया; उस दिन की ओर; जब उसने कहा—'लूनी, अब मैं बहुत पढ़ गया हूँ, अब मैं तुम्हें सुखी करने के लिये लड़ूँगा,' और रात को लापता हो गया; इतने बरसों के बाद के उस दिन की ओर, जब कि उसके 'पति' ने इसे एक पत्र लाकर दिया और उपेक्षा से पूछा—'तेरा कोई भाई भी है ? उसी का है।' और उसके पूछने पर कि पत्र में क्या है, इतना-भर बता दिया कि वह आयेगा; उस दिन की लज्जा और ग्लानि की ओर, जिस दिन वह अपने भाई के सामने नहीं हो सकी, और वह बाहर ही से लौटकर चला गया; उस दिन की ओर, जब वह चट्टान पर उसकी गोद में सिर रखकर बरसों से जोड़ी हुई कलुषा धो आई; उस दिन की ओर, जब वह फिर विदा लेकर चला गया, लूनी को सुखी करने के लिए; उस भयंकर दिन की ओर, जिसमें लूनी से किसी ने कहा कि उसका भाई पकड़ा गया है, और यह नहीं बता सका कि कहाँ और किस जुर्म में, उस दिन की ओर, जब कि उसका घोर अनिश्चय दूर करने को समाचार आया यह है कि भाई को प्राणदण्ड की आज्ञा हुई है, उस दिन की ओर, जब उसे भाई का अपने हाथों लिखा पत्र आया, जिसे उसने कई बार पढ़ाकर सुना और कंठस्थ करके भी पूरा समझ न पाई, और अन्त में, वामन अवतार के पग की तरह, सम्पूर्ण सृष्टि को रौंद कर, उसके हृदय के कोमलतम अंश पर, जहाँ उसने

भाई के जीवन की स्मृति को छिपा रखा था—उसी जीवन की, जो कि अभी थोड़ी देर में नष्ट हो जायगा और अपनी स्मृतियों को बिखेर जायगा, जिसका स्थान शीघ्र ही अनभरे आँसू ले लेंगे।

लूनी की दृष्टि एक बार चारों ओर घूम कर, लूनी के आस-पास बिखरी हुई विभिन्न फूलों की रूपराशि और भीनी गन्ध को, नदी पर थिरकते हुए धुँधले से आलोक को, तलेटी के चीड़ वृक्षों से उठती हुई अज्ञात साँसों को, सामने के पहाड़ पर काँपती हुई बीन की तान को और पहाड़ की स्निग्ध श्यामता को पी गई, फिर एक अव्यक्त प्रश्न से भरी हुई वह दृष्टि उठी सान्ध्य तारे की ओर। उसका वह अव्यक्त प्रश्न एक थरथराती हुई प्रतीक्षा-सा बन गया।

आकाश में दो बड़े-बड़े सफेद आकार चले जा रहे थे—शायद बगुले···पर इनके पर कितने बड़े-बड़े जान पड़ते हैं, जैसे सारस के हों।

और उनकी गति कितनी प्रशान्त, मानो मृत्यु की तरह, मानो जीवन के अवसान की तरह निःशब्द।

नीचे गाँव में से कहीं घंटा खड़कने की ध्वनि आई। लूनी तनकर बैठ गई, उसकी ऐन्द्रिक चेतना अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई, किन्तु साथ ही उनके आगे, लूनी के शरीर-भर में, अँधेरा भर गया······

तलेटी में कहीं चौंककर, फटी हुई वेदना के स्वर में टिटिहरी

रोई—'चीन्हूँ ! चीन्हूँ !' मानो अपने घोंसले पर काँपती हुई अज्ञात छाया को देखकर, एकाएक भयभीत वात्सल्य और स्वरक्षात्मक साहस से भरकर तड़प उठी हो, और उस छाया को ललकार रही हो।

लूनी का शरीर, उसकी आत्मा, ढीला होकर झुक गया। उसे जान पड़ा, एक निरकार छाया उसके पास खड़ी है और उसे स्पर्श कर रही है—उसे जान पड़ा, वहाँ कुछ नहीं है, वह अकेली हो गई है, लुट गई है, क्वारी ही विधवा हो गई है।

उसने देखा, शून्य में आकाश-गंगा—विश्व-पुरुष के गले की फाँसी—को छूती हुई अकेली पताका ही उसकी सहचरी रह गई है।

: चौदह :

कैदी

[श्रीमती सत्यवती मलिक]

वह एक जीवित मांस की लोथ-सा दिखाई देता था। सफेद रक्तहीन चेहरे पर कीच-युक्त अधखुली आँखें, मुँह से वहती हुई लार, जो उसकी वढ़ी हुई दाढ़ी पर से एक डोरे की तरह टपक रही थी और जिस पर मक्खियों ने अधिकार जमा लिया था। उसके काँपते हुए सिरने, जिसे वह हथकड़ियों की रगड़ से दोनों घाव-युक्त कलाइयों के सहारे थामे हुए औंधा पड़ा था, उसकी आकृति को और भी भयावना वना दिया था।

वेड़ियों की जंजीरों को पकड़े हुए यदि उसके दोनों ओर दो लाल पगड़ी वाले सिपाही न होते, तो कोई भी यात्री ऐसे घिनौने मरणासन्न व्यक्ति को वस में न घुसने देता।

उसी दिन प्रातःकाल उन लोगों ने लाहौर से मोटर वस द्वारा श्रीनगर के लिए प्रस्थान किया था। करीव दो वजे जम्मू शहर के अन्त में, जहाँसे जम्मू-काश्मीर-वाली रोड प्रारम्भ होती है, मोटर-वस पेट्रोल लेने के लिए खड़ी हुई। पेट्रोल पम्प पर खड़ा होना, विशेपतया गर्मी के दिनों में, यात्रियों के लिए वहुत नागवार-सा होता है।

अगली सीटों पर दो तीन कालेज के विद्यार्थी थे, बीच की पूरी सीटों पर दो स्त्रियाँ तथा उनके दो बच्चे और और पिछली सीटों पर जम्मू शहर से सवार हुए तीन-चार यात्री जो सब्जी आदि काश्मीर ले जाने का व्यवसाय करते थे, और एक खान-सामा भी था।

विद्यार्थी अखबार और पुस्तकें उलट-पलट कर देखने लगे। दोनों स्त्रियों में से एक ऊँघ रही थी और दूसरी नीचे सुदूर समतल पर एकटक देख रही थी, मानों अपने बीते हुए जीवन के वर्ष गिन रही हो।

"क्या वह बीमार है?"

"जी हाँ, यह बीमारी इसे जेल में ही हो गई थी।"

इसी समय पिछली सीटों पर कुछ भनभनाहट हुई, और अगली सीटों के सभी यात्रियों की दृष्टि उस विकृत मनुष्य की ओर आकर्षित हुई। सड़क पर कुत्ते की मरते समय जो दशा होती है,....अभी दस मिनट में ही सबका जी लगभग उसी तरह के भय, आशंका और ग्लानि से एकबारगी भर गया।

रामानगर-महल को पार करते ही पथरीले पहाड़ आरम्भ जाते हैं। नीचे दूर तक रेत और सफेद पत्थरों के विस्तृत मैदान में से मार्ग बनाती हुई तवी नदी बह रही है। इस पार कुछ हरी हरी खेतियाँ, बहेकड़ की झाड़ियाँ और कुछ दूरी पर समीप आती हुई विशाल पर्वतश्रेणियाँ,—यह सब कितने सुहावने प्रतीत होते हैं; किन्तु आज ड्राइवर की कृपा से सब......

यात्रियों का अनुमान था कि उसकी जबान बन्द हो चुकी है, वह मूर्छित है और अन्तिम घड़ियाँ गिना रहा है; किन्तु वे मानो भूत-प्रेत के मुखसे सुन रहे हों, "पानी ! पानी !···"

"तो अभी वह जीता है।"

"शायद न मरे।"

सब लोगों ने एक साथ ही सिपाहियों की ओर देखा।

"देते हैं पानी, सबर करो।"

"रास्ता सूखा है, पानी यहाँ कहाँ मिलेगा ?"

ड्राइवर अपनी तेज चाल से मोटर लिए जा रहा था। सात आठ मील के बाद एक दूकान से पानी मिला, किन्तु उस जीवित लोथ ने स्पर्श करते ही मुँह फेर लिया, "न···न···ठंडा पानी··· वर्फ···पानी···हूँ हूँ···"

"वाह रे लाट साहब ! ठंडा पानी,—वर्फ···पानी···नवाब तो तू ही है।"

सब लोगों ने पुनः सिपाहियों पर नजर डाली।

"पानी···त्रेश···त्रेश···"*

"अजी, यह तो जेल में झुलस गया है। काश्मीरी है न ?"

"पहाड़ी लोगों को वैसे ही नीचे भेज देना बड़ा भारी दण्ड है, और फिर जेल में···या अल्लाह !" खानसामे ने कहा।

"लो बादशाहो !"

ऊदमपुर पहुँचकर दूसरे सिपाही ने ठंडे पानी से भरा लोटा

---

* काश्मीरी भाषा में 'त्रेश' पानी और प्यास को कहते हैं।

कैदी के मुँह से लगाया। हाँफते हुए घोड़े की तरह वह एक सांस में ही लोटे का पानी समाप्त कर गया।

अगला पड़ाव कुद सैनिटोरियम है। चील वृक्षों में से सर-सराती हवा, संध्याकालीन नीले आकाश में जहाँ-तहाँ छितराये वादल, एक-एक मोड़ के वाद ऊँचाई! तीन घंटे में कितना परिवर्तन !

"रोटी!—क्या तेरी माँ ने पका रखी है?" पीछे फिर भनभनाहट हुई।

लोथ! नहीं, अब हम उसे कैदी कहेंगे। कैदी के चेहरे का रंग अब पीला हो गया था, और क्रमशः उसमें जीवन के चिह्न जागृत हो रहे थे। हाँ, तो कैदी ने पुनः धीरे से यन्त्रणा भरे स्वर में कहा, "भूख! रोटी!"

यात्री उसके इस आश्चर्यजनक परिवर्तन और कुसमय की मांग को सुनकर हँस पड़े। स्त्रियों में से एक के पास कुछ खाने की सामग्री थी। चलती गाड़ी में उसने अपनी टोकरी में से कुछ ताजा कलाकन्द, मूँग की तली दाल और दो आम सिपाही के हाथ में दिये।

"लो, जलसे करो दोस्त! सतवरे ते कुश नहीं मिलाया।" (लो, ज़लसे करो दोस्त! सात वर्ष से तुम्हें कोई चीज नहीं मिली।)—सिपाही ने डोगरी भाषा में कहा।

"कितने वर्ष की कैद थी?" पिछली सीट के एक वृद्ध महाशय ने पूछा।

"सात वर्ष की।"

"ओह! सात वर्ष तो एक लंबा अरसा होता है।" एक ठंडी साँस के साथ उसने कहा।

"खाने को क्या मिलता होगा?"

"दो सूखी रोटियाँ और दाल दोनों वक्त, और क्या? जनाब, जेल है, जेल!"

"अब इसे कहाँ ले जा रहे हैं?"

"इसकी सजा खतम हो गई है, बीस ही दिन बाकी हैं। हरिपर्वत जेल में इसे छोड़कर हम में से एक आदमी वापस आ जायगा।"

कैदी मिठाई समाप्त कर चुका था और आमों का रस उसकी काली घनी दाढ़ी से टपकता हुआ हथकड़ियों तक जा पहुँचा था। अपने समूचे जीवन में ऐसी मिठाइयों और आमों के रस का उसने कभी आस्वादन नहीं किया था।

मोटर-बस इस समय एक ऊँची चोटी पर से गुजर रही थी। अंधेरा हो चला था। पर्वतीय शीतल वायु, रसपूर्ण पदार्थों की तृप्ति एवं 'घर जा रहा है' सिपाहियों के इन शब्दों ने उसके विक्षिप्त अंगों में अद्भुत चेतना का संचार कर दिया।

कैदी मुस्कराया, "आज भंत्ता खाएगा।" (आज चावल खाऊँगा।)

"हाँ, आज रात को पुलाव खिलाएँगे, मामाजी!" सिपाही ने व्यंग्य से उत्तर दिया।

वृक्षों में से अर्द्धचन्द्र कभी निकलता और कभी छिप जाता। जिस समय मोटर-बस पहाड़ पर खड़ी हुई, यात्री एक चौबारे पर चले गए और क़ैदी सिपाहियों के पीछे दुलकता हुआ ऊपर की पहाड़ी पर स्थित पुलिस-चौकी पर लेजाया गया।

क्षितिज में अभी काफ़ी तारे बुझते-जगते नज़र आते थे। चन्द्रमा की छाया इस पार अभी फीकी नहीं पड़ी थी कि ड्राइवर ने पों-पों करके हार्न बजाना आरम्भ किया। यात्रियों ने बिस्तरे बांधकर पहाड़ी कुलियों द्वारा सामान नीचे भिजवा दिया। केवल 'क़ैदी' के आने की देर थी।

'नामुराद! कमबख्त!' दो-चार अन्य भी भद्दी गालियां देकर ड्राइवर ने पुकारा।

आज उसका सिर नहीं काँप रहा था। पीला कुरता, जाँघिया और टोपी पहने डोर-बेड़ियों की झनझन ध्वनि करता हुआ वह सिपाहियों की साथवाली सीट पर अधिकारपूर्वक बैठ गया।

धुन्ध, घनी छाया, सामने के पर्वतों में गहरी निस्तब्धता लगातार कई मीलों तक छाई थी। सभी यात्री गर्म वस्त्रों में लिपटे हुए बैठे-थे।

आखिरकार इस एकरसता को भंग करते हुए वृद्ध सज्जन ने कहा, "क्यों जी, फिर रात को खूब भात खाया?"

"सब हड्डियाँ, सब झूठा भात।" रोषपूर्ण स्वर में क़ैदी ने उत्तर देते हुए स्त्री की ओर देखा, "माई जी सलाम।"

"खुदा तैनूँ ज़िन्दा रक्खे।"

"बकता है!" सिपाही ने मानो सफ़ाई पेश करते हुए कहा, "सारी रात तो सोने नहीं दिया—कभी रोता था, कभी हँसता था। खबर नहीं, इसे क्या हो गया था!"

कैसे वह एक पालतू कुत्ते की भाँति हवालात के एक कोने में सींकचों से बांध दिया गया था, चन्द्रमा की चान्दनी में घंटों वह चावल और मांस पकाने की सुगन्धि का मज़ा लेता हुआ अपने मिट्टी के प्याले की ओर देखता रहा, और जब तक पड़ाव की पुलिस का हवलदार जम्मू जेल से आये हुए अपने अतिथियों (सिपाहियों) की खातिरदारी करता और उनके साथ बैठ कर माँस-चावल आदि खाता रहा, तब तक वह अधीर हो उचक-उचक कर देखता रहा। रात की सारी घटनाएँ क़ैदी के सामने घूम गईं। वह पुनः चिल्ला उठा, "हड्डियाँ माई जी! सब जूठा भत्ता! माई जी, अज चाय पिलाएँगा। जे अज चाय नहीं पिएँगा तो फिर कद पिएँगा? जिन्दगानी, परवरदिगार तै नू..." (माईजी आज चाय पिलादो। आज के दिन अगर चाय नहीं मिलेगी तो फिर कब मिलेगी? परवरदिगार तेरी आयु...)

और सामने की चोटियों पर प्रभात-वेला में नवीन तिरछी किरणें अलौकिक प्रकाश फैलाने लगीं। चन्द्रभागा दूर से उस विशाल पर्वतमाला के चरणों-तले पतली धारा-सी दिखाई पड़ी। यात्री इस अपूर्व सौंदर्य पर मुग्ध हो उठे।

"यही क़िला है काश्मीर का काला पानी। पहले महाराज के समय में जिसे आजन्म कारावास होता था, उसे यहीं छोड़ देते थे।"

दोनों ओर महान् पर्वतों के बीचों बीच अकेला एक छोटा-सा पर्वतखण्ड—कुछ भग्नावशेष और घिरा हुआ। लोगों ने एक साथ ही उस भयावने स्थान एवं क़ैदी की ओर देखा। फिर कुछ ढलान आई, और चन्द्रभागा उछलती, कूदती, पूरे यौवन में प्रवाहित होती समीप आगई।

"आब छुस—आब! आब!" (पानी है—पानी! पानी! पानी!) क़ैदी खुशी के मारे जोर से चिल्लाया—इतना सिपाहियों को डाँटना पड़ा। क़ैदी गाने लगा—

"अन्नावल म्यान दीदार जाने
छलछल म्यान दीदार जाने
वला म्यानी पोशे-पोशे
चे कुत छुइ शान व्यथिरालो
बागे निशात के गुलो।

——"ओ मेरे छलछलाते देश, बेंत वृक्षों के घेरे में चिनार के पेड़ के नीचे अन्नावल (एक छोटी झील का नाम)!

—बर्फ पिगल गई है, नवीन कोंपलें फूट निकली हैं। नरगिस, गुलाब, यास्मान, ओ निशात बाग के फूलो!

—और शगूफा निकल आया है। वेदमुश्क की महक हमारे शिकारे तक आ पहुँची है। ओ मालती, समाचार में

चाय की पत्तियां डाल !

—ओ मालती, मैं डाँड़ लेकर डोंगे को बाहर ले चलता हूँ और तू चप्पू चलाना !”

चन्द्रभागा सड़क से कुछ ही नीचे अठारह बीस मील तक साथ-ही-साथ बही है। अनेक छोटे-छोटे नाले, हिमखण्डों से पिघलते हुए प्रपात झरने, जड़ी-बूटियों में से होते हुए उसके साथ मिल रहे हैं।

और क़ैदी अपनी मस्त तान से काश्मीरी-भाषा में गाता चला जाता है; किन्तु गाने के प्रत्येक अन्तिम चरण में एक करुण भयावनी चीख उसके मुँह से निकल जाती है। सिपाही ने फिर डाँटकर कहा, “कुत्ते की तरह रोता क्यों है, कमबख्त ?”

अब श्रीनगर केवल पचास मील शेष रह गया। हरी-हरी धान की खेतियां, सफेदों से घिरी सड़कें, फलों से फूलते पेड़ और नववसन्त के सौरभ से आलोडित समूची उपत्यका मानो उसका आतिथ्य कर रही हो। सड़कों पर काम करने वाले कुली, खेतों पर काम करने वाले किसान, लम्बे कुर्ते और टोपियाँ पहने काश्मीरी बच्चे मोटर-बस की तेज़ चालों में से भी क़ैदी की आत्मा के साथ एकाकार हो रहे थे। वह बरबस मोटर की खिड़की में से मुँह बाहर निकाल कर चिल्लाया, “काशर छुस हतो।” (अरे, तुम काश्मीरी हो न।)

किसी भी व्यक्ति से काश्मीरी-भाषा में बात करने के लिए उसका हृदय मानो छटपटा रहा था। वह कभी सीट पर से उठता, कभी सिर बाहर निकाल कर देखता और कभी बीच की

सीट वाली स्त्री और उसके बच्चे की ओर देख कर कहता—"जिन्दगानी, परवरदिगार, माईजी ! ओ स्यानी दोस्ता ! (लड़के की ओर देखकर) मेरे दोस्त !

स्त्री बार-बार क़ैदी के इस व्यवहार पर झेंप जाती और उसका लड़का क़ैदी को "अपना दोस्त" कहते सुन झुँझलाने लगता।

"अजी सात वर्ष इसने चाय नहीं पी। सात वर्ष इसने भात नहीं खाया। सात वर्ष तमाकू नहीं पिया और सात वर्ष किसी स्त्री और बच्चे का मुख नहीं देखा।"

"क्यों हुजूर ?"—खानसामे ने सिपाहियों की ओर देखकर मुस्कराकर कहा।

"अरे, चुप कर, माईजी, माईजी मत कर। रात को भी पूछता था, वह मिठाई देने वाली माईजी क्या कल भी होंगी ?"

फिर कुछ दूर निकल गये।

"मे छुस बड़ गुनाहगार, स्यानी खुदाया ! ओ परवरदिगार, मेदिमो राहत !" (या खुदा, मैं बड़ा गुनहगार हूँ, मुझे सीधे रास्ते पर ले चल।)

सीटों के मध्य में दोनों हाथों पर सिर रख कर मानो उसके अन्तर से कोई मर्मान्तक व्यथा फूट रही हो। क़ैदी सिसक रहा था। जान पड़ता था; जैसे ऐसी क्रिया उसका अंग बन चुकी है ! वह पुनः उठा और जोर से हँस पड़ा, "शाली, शाली !" ×

× 'शाली' काश्मीरी भाषा में 'धान' को कहते हैं।

शहर समीप आ गया था। बादामी बाग के मैदान में भीड़ एकत्र हो रही थी। "महाराज! महाराज!! वह उछल पड़ा, मैं सौगन्दपूर्वक कह सकता हूँ, महाराज खेलने आये हैं।"

खानसामे ने पूछा—"तुम्हारी भाई है?"

कैदी का सिर पुनः लटक-सा गया।

"नहीं।" उसने सिर हिलाकर कहा। "बच्चे हैं?"

उसका गला भर आया। एक नजर उस बीच की सीट वाले लड़के की ओर डालते हुए कैदी ने हाथों के संकेत से कहा—"दोनों नहीं। एक लड़का था, एक लड़की, और......" वाक्य को समाप्त करने से पूर्व उसने एक दृष्टि इस भाँति उस सस्य-श्यामला भूमि, उस कलकल-छलछल करती हुई नदी—जेहलम, उस विस्तृत नीले आकाश में फैले उड़ते सफेद बादलों की ओर घुमाई जिनकी आशा से वह कल जी उठा था। जैसे आज फिर सब कुछ सूना हो गया हो। उसने रुँधे गले से जोर लगा कर कहा, "और शादी भी मर गया।"

सब लोग हँसते-हँसते लोट-पोट हो गये। बस से उतरते हुए खानसामे ने कहा—

"वाह ओये खुश रहो जवानां,
पैंडा मोणा कट छोड़ आई।"

(वाह जवान! खुश रहो, रास्ता अच्छा कट गया है!)

यवनिका पतन

(लेखक—श्री. पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी)

रामदास ने कमरे की खिड़की खोल दी और अन्यमनस्क भाव से बाहर देखने लगा। ६५ वर्ष की अवस्था में रामदास को अभीष्ट-सिद्धि हुई। ३५ वर्ष के बाद वह अपने पूर्वजों के विशाल भवन में फिर लौटकर आया। सम्पत्ति के अभाव में जिसको उसने खो दिया था, उसको सम्पत्ति के प्रभाव से उसने फिर प्राप्त कर लिया। परन्तु उसकी अवस्था में कितना परिवर्तन हो गया था। पूर्वजों की उस विशाल, सुदृढ़ अट्टालिका पर काल का विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। वह ज्यों-की-त्यों खड़ी है। पच्चीस वर्ष के भीतर उसमें जो जीर्णता या मलीनता आ गई थी, वह दो ही दिनों के प्रयत्नों से दूर हो गई। पर रामदास के अल्प-जीवन में काल ने जो आघात किया है, उसे क्या वह अब दूर कर सकेगा? उसके लिये तो अब यह अंतर्जगत् भी परिवर्तित हो गया है। वही ग्राम है, वही नदी है, वही पहाड़ है और वही दिन भी है। पर अब वह स्वयं नहीं रहा जो पहले था। अभाव की उस अवस्था में भी उसमें जो था उसे वह अपनी इस समृद्धि की स्थिति में नहीं पा सकता। जो चला गया, वह चला गया। जो

खो गया, वह खो गया। जीवन में अब वह रस कहाँ, वह स्फूर्ति कहाँ, आनन्द की वह अनुभूति कहाँ। तब विपत्ति प्रेरणा देती थी, अभाव उत्तेजित करता था, असंतोष महत्त्वाकांक्षा लाता था, कर्तव्य का भार गौरव देता था, उद्दाम इच्छा कर्मशक्ति को उद्दीप्त करती थी। बाधाओं को पराभूत करने से उसे उल्लास होता था। तब उसमें अनुराग की लालिमा थी, शक्ति का गर्व था पौरुष का अभिमान था, लालसा की अतृप्ति थी। तब वह सभी को स्वायत्त कर लेना चाहता था। उसमें विश्वास की दृढ़ता थी। विफल होने पर उसके प्रयत्न और अधिक तीव्र हो जाते थे।

पच्चीस वर्ष के भीतर उसे संसार की यथार्थता का अनुभव हुआ। हीनावस्था में ही हमें जीवन संघर्ष का ज्ञान होता है। तरुणावस्था को ऐश्वर्य के विलास में व्यतीत कर प्रौढ़ावस्था में उसे कर्म-क्षेत्र में प्रविष्ट होना पड़ा। तब उसे ज्ञान हुआ कि संसार में जहाँ गौरव है, वहाँ क्षुद्रता भी है: जहाँ ऐश्वर्य है, वहाँ दैन्य भी है; जहाँ क्षमता है, वहाँ अक्षमता भी है। प्रकृति में वैचित्र्य है, मानव समाज में विषमता है। उसने यह भी देखा कि मनुष्य परिस्थिति का खिलौना है। किसी विशेष परिस्थिति में कोई विशेष क्षमता-सम्पन्न हो जाता है और कोई सर्वथा अक्षम हो जाता है। उसने अपने ही नहीं, अन्य कितने ही लोगों के जीवन में भी भाग्य-चक्र का उत्थान-पतन देखा। संसार में नीति की चाहे जो व्याख्या हो, इसमें सन्देह नहीं कि अधिकांश लोग कष्ट

पाते हैं और कुछ विशिष्ट लोग ही सुखों का उपभोग करते हैं। सभी में एक-सी क्षमता नहीं होती, एक-सी बुद्धि नहीं होती, एक-सी योग्यता नहीं होती। पर सुख-दुःख की अनुभूति सभी में एक-सी होती है। बड़ों की तरह छोटे भी सुखों का अनुभव न करने पर भी दुःखों की तीव्रता का अनुभव करते हैं। यह अवश्य कहा जाता है कि हम लोगों में बुद्धि-स्वातंत्र्य है और कर्म-स्वातंत्र्य है। हम जो कुछ करते हैं, स्वेच्छा से करते हैं। पर संसार की कर्म-भूमि में न बुद्धि-स्वातंत्र्य काम देता है न कर्म-स्वातंत्र्य। परिस्थिति से विवश होकर हमें सभी काम करने पड़ते हैं। शक्ति जिस प्रकार दर्प लाती है, उसी प्रकार शक्ति का अभाव हीनता ला देता है, मनुष्य अपने जिस गौरव का गर्व करता है, वह केवल परिस्थिति का परिणाम है। विशेष परिस्थिति में पड़कर कितने ही क्षमताशाली, प्रतिभाशाली और शक्तिशाली व्यक्तियों का गौरव नष्ट हो जाता है। अधिकांश लोग साधारण व्यक्ति होते हैं। उनमें न शक्ति की असाधारणता है और न बुद्धि की विलक्षणता। ऐसे लोगों में गौरव की कामना भी नहीं होती। कुछ विशिष्ट लोग ही असाधारण शक्ति-सम्पन्न होते हैं। वही यश और अपयश के पात्र होते हैं, वही उपकार या अपकार करते हैं, वही शासक होते हैं और अन्य शासित।

रामदास ने एक दीर्घ निःश्वास लिया और फिर आकाश की ओर दृष्टिपात किया।

सूर्यास्त हो रहा था। अपने जीवन में सूर्यास्त का यह दृश्य

कितने ही बार देख चुका था। प्रतिदिन सूर्य अस्त होता है, पर प्रतिदिन सूर्यास्त की शोभा में एक नवीनता ही रहती है। प्रकृति के सभी दृश्यों में एक चिर-नवीनता ही रहती है। उन दृश्यों का जो प्रभाव हम लोगों पर पड़ता है उसमें भी विभिन्नता रहती है। कितना ही रमणीय दृश्य क्यों न हो, किसी विशेष भाव के वशीभूत होने पर हम लोगों के हृदय में प्रकृति का वह रमणीय दृश्य भी तदनुकूल-भाव से आच्छन्न हो जाता है। ६४ वर्ष की अवस्था में सूर्यास्त की शोभा में वह जीवन की वृद्धावस्था की झलक देखने लगा। सूर्य का अब वह प्रचण्ड प्रकाश नहीं था। उसकी दीप्ति में अब लालिमा रहने पर भी वह लालिमा तेज की हीनता प्रकट कर रही है। जो सूर्य पहले इतना तेजोमय था कि उसकी ओर दृष्टि निक्षेप करने का साहस किसी को नहीं हो सकता था, उसे अब हम अच्छी तरह देख सकते हैं। क्रमशः वह छिपने लगा। और कुछ ही क्षण में अदृश्य हो गया। विश्व में उसका कोई अस्तित्व नहीं रह गया। अस्त हो जाने पर भी कुछ समय तक आकाश-मण्डल में उसकी दीप्ति फैलती रही, पर धीरे-धीरे वह दीप्ति भी नष्ट होने लगी। कुछ देर में सारा संसार अंधकार-मय हो गया। चारों ओर निस्तब्धता छा गई। रामदास सोचने लगा—

यों ही हम लोगों की जीवन-ज्योति किसी अनन्त रहस्य-मय प्रदेश में विलीन हो जाती है। सूर्य की तरह वह भी तम से उदित होती है और फिर तम में ही विलीन हो जाती है। उसमें

भी प्रभात का लावण्य रहता है, मध्याह्न की उग्रता रहती है, अपराह्न की स्निग्धता रहती है और फिर संध्या की क्षीण लालिमा को लेकर वह काल की तमिस्रा में छिप जाती है। जन्म और मृत्यु का रहस्य सभी के लिये अज्ञात है। जैसे संसार में व्यक्तियों की सृष्टि होती है और संहार होता है वैसे ही अनंत ब्रह्माण्ड में विश्व की भी सृष्टि होती है और संहार होता है। अनादि-काल से सृष्टि और संहार का यह क्रम चलता आ रहा है। यह भगवान् की एक लीला है, यह मनुष्यों की बुद्धि के लिए अन-धिगम्य है। असीम और अनन्त ब्रह्माण्ड में हमारी इस पृथ्वी को ही क्या गणना है। इसके भी एक क्षुद्र कोने में जन्म लेकर और क्षुद्र जीवन व्यतीत कर हम अपने गौरव का अभिमान ही क्या कर सकते हैं ? परन्तु यह सच है कि भगवान् की यह अतर्क्य लीला हम लोगों के लिए लीला नहीं है। हम लोग अपने जीवन को सब कुछ समझ सकते हैं, पर उसे लीला नहीं मान सकते। कहा जाता है कि ज्ञान के अन्तिम तक पहुँच जाने पर हम लोग भगवान् की इस लीला को समझ जाते हैं परन्तु विश्व के कर्म-क्षेत्र में ज्यों-ज्यों हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों हमारी वेदनाओं की उग्रता भी बढ़ती जाती है। सभी कष्टों और वेदनाओं को अपने कर्मों का अनिवार्य फल मानकर हम सब कुछ भले ही सहते रहें, पर यह सच है कि हमारे मन को संतोष नहीं होता। अपने पुण्यों की शक्ति से जो देवलोक के अधिवासी हैं उन्हें मर्त्य-लोक के निवासियों की वेद-

नाओं से क्या सहानुभूति हो सकती है? देवगण मनुष्यों के कष्टों को तिरस्कार की ही दृष्टि से देखते होंगे। वे असीम सुखों के अधिकारी होते हैं! तब उन्हें यातना का अनुभव ही कैसे हो सकता है? हम लोगों के मर्त्य-लोक में भी देव-तुल्य लोग होते हैं। वे लोग विशेष क्षमता-संपन्न होते हैं, उन्हीं में शक्ति रहती है, वे ही ऐश्वर्य का उपयोग करते हैं, पर मर्त्य-लोक के अधिकांश निवासी सुख नहीं दुःख का ही उपभोग करते हैं। उनका घर, उनका रहन-सहन, उनका पारिवारिक जीवन सभी में एक हीनता रहती है। उनकी इच्छाओं, आशाओं और ध्येयों में भी कोई गौरव नहीं रहता। पृथ्वी में तृण की तरह वे लोग जन्म लेते हैं और तृण की तरह वे अपना जीवन यापन करते हैं। आँधी धूल उड़ाकर उन्हें ढाँक देती है। सभी निर्भकता से उन्हें कुचल कर चले जाते हैं, उनमें काँटे भी नहीं हैं। उनमें केवल सहिष्णुता है, पर वही उनकी सबसे बड़ी शक्ति है। उसी के कारण वे लोग जीवित रहते है। फिर भी यह बात नहीं है कि वे सुख का अनुभव नहीं करते। ग्रीष्म के सन्ताप के बाद उनके भी जीवन में पावस की श्याम घटा उदित होती है, शरद की अनुराग लालिमा प्रकट होती है, शिशिर और वसन्त की शुभ्रता आती है, वसन्त की नव श्री भी लक्षित होती है। धूल-धूसरित होने पर भी वे एक सुख, संतोष और तृप्ति का अनुभव करते हैं। यह सत्य है कि उसमें शक्ति का दर्प नहीं, विशाल वृक्षों की तरह वे मस्तक उन्नत कर नहीं खड़े होते। उनका आश्रय लेने के लिये पक्षियों

का समूह नहीं आता और न कोई विहंग उनका स्तुतिगान करता है। अपने फूलों और फलों के भार से वे संसार में आदर भी नहीं पाते। उनके फल और फूल इतने क्षुद्र होते हैं कि वे उन्हीं में प्रकट होकर उन्हीं में लीन हो जाते हैं। सबने अज्ञान, उपेक्षित और दलित रह कर वे स्वयं नष्ट हो जाते हैं। पर उन्हीं में उनके जीवन की सार्थकता है, उन्हीं में उनकी सफलता है और वही उनके जीवन की साधना है।

क्रमशः अंधकार फैलाने लगा! रामदास उस अंधकार में एक विलक्षण मानसिक स्थिति का अनुभव करने लगा। कभी-कभी हम सब लोगों में मोह की एक ऐसी विलक्षण स्थिति आ जाती है, जब हम लोग भीतर और बाहर एक शून्यता का अनुभव करते हैं उस समय बाह्य-जगत् पर दृष्टि आबद्ध रहती है, पर मन उसे ग्रहण नहीं करता। उसी प्रकार भीतर भी भावों में शिथिलता, निश्चेष्टता और जड़ता आ जाती है। तब न सुख का अनुभव होता है, और न दुःख का। शरीर के सभी अंग यन्त्रवत् काम करते रहते हैं। चेतना शक्ति बनी रहती है। पर मन में एक ऐसा अवसाद छा जाता है कि हमें सर्वत्र एक शून्यता की अनुभूति होती है, जैसे कहीं कुछ नहीं है, न प्रकृति का सौन्दर्य है, न संसार का व्यापार है, न स्नेह का ममत्व है, न कर्त्तव्य का बंधन है, न गौरव है, न हीनता है। केवल यही एक भाव विद्यमान रहता है कि मैं अकेला हूँ। इस असीम जगत् में मैं बिलकुल एकाकी हूँ। इस समय सारा विश्व मिथ्या

प्रतीत होने लगता है। स्वार्थ का यह संघर्ष कितना विकट है, शक्ति का यह गौरव कितना तुच्छ है, श्री का यह विलास कितना तिरस्करणीय है। पर मोह की यह अवस्था क्षणिक होती है। हमें फिर अपने स्वार्थ जगत् में आना ही पड़ता है। हमें फिर अपने स्वार्थ की चिन्ता करनी ही पड़ती है। फिर वही कष्ट, वही प्रयास वही सेवा स्वीकार कर कर्म-क्षेत्र में प्रविष्ट होना पड़ता है। तुच्छ स्वार्थों के लिए हमें दूसरों से कृपा की भिक्षा मांगनी पड़ती है। तिरस्कृत और अपमानित होने पर भी हम अपनी सेवाओं से प्रसन्न करने की चेष्टा करते हैं। इस कष्ट में पड़कर द्वार-द्वार भटकते हैं और अपनी योग्यता का प्रमाण देने के लिए चाटुकारिता का आश्रय लेते हैं।

सहसा स्नेह की उज्वल दीप्ति की तरह वह कमरा विद्युत् के प्रकाश से जगमगा उठा। रामदास कुर्सी पर लेट गया। वह फिर ध्यान में मग्न हो गया। अतीत की कितनी ही विस्मृत बातें उसके अन्तःकरण में एक-एक कर उदित होने लगीं।

उसे अपने बड़े भाई का स्मरण हो आया। एक ही पिता के वे दो पुत्र थे। एक ही स्थान में उन दोनों का जन्म हुआ। एक ही स्थान में उन दोनों का लालन-पालन हुआ। एक ही परिस्थिति में दोनों ने एक ही विद्यालय में शिक्षा प्राप्त की; तो भी उन दोनों में इतनी विपरीतता है कि बिना बतलाये कोई भी यह नहीं कह सकता कि वे दोनों भाई-भाई हैं। उन लोगों में विचार भिन्न हैं, रुचि भिन्न है, चाल-चलन, रंग-ढंग, व्यवहार, स्थिति सभी

ही भिन्न हैं। समता कहाँ है, यह वह स्वयं नहीं जान सकता। फिर भी उनमें बन्धुत्व है। स्वार्थों का संघर्ष होने पर दोनों में कई वार विरोध हुआ, विद्वेष हुआ, वैमनस्य हुआ। फिर भी प्रेम में एक अलक्षित सूत्र से वे ग्रथित ही रहे। कितनी ही अच्छी मैत्री क्यों न हो, उसमें यह बन्धुत्व आ ही नहीं सकता। यह ईश्वर-प्रदत्त स्नेह बन्धन है और मैत्री मनुष्य निर्मित प्रेम-सूत्र है, विवाह का बन्धन भी कम आश्चर्यजनक नहीं है। कहाँ की एक स्त्री आकर गृह की स्वामिनी वन जाती है और उसीसे पुरुष का भाग्य इतना सम्बद्ध हो जाता है कि वह उसके जीवन की गति को ही वदल देती है। असंख्य नारियों में से एक विशेष नारी ही एक विशेष पुरुष के जीवन में आकर मिल जाती है। दोनों का स्वार्थ एक हो जाता है। दोनों का सुख दुख एक हो जाता है।

विज्ञ लोग मनुष्यों की स्वार्थ बुद्धि की चाहे जितनी भी निन्दा करें, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि इसी बुद्धि की प्रेरणा से मनुष्य उच्च-से-उच्च और नीच से नीच काम करता है। कीर्ति की लालसा, सम्पत्ति का लोभ, उन्नति की कामना, सव इसी पर निर्भर है। उसी के कारण प्रयास करता है, तरह-तरह के उद्योगों में व्यग्र रहता है, तरह-तरह की चिन्ताओं में लीन रहता है और तरह-तरह के कष्ट सहता है। सच तो यह है कि पुत्र, कलत्र, परिवार, देश सभी उसीके कारण प्रिय होते हैं। उसे भी जो कुछ सुख-दुःख का अनुभव हुआ, उसमें वही स्वार्थ-बुद्धि का काम कर रही है। अपने इस घर से उसकी जो इतनी ममता है,

उसका भी यही कारण है। उसका जीवन उस एक गृह से इतना सम्बद्ध है कि सचमुच यही एक उसका अपना घर है।

किस अपमान, किस व्यथा, किस ग्लानि और किस यातना से उसने अपना यह घर छोड़ा था। परंतु आज वह अपने पुरुषार्थ से उसी घर का स्वामी बन कर फिर आया था। वह अर्थ-कष्ट कहाँ गया ? वह दुःख कहाँ विलीन हो गया ? किन्तु—

वह कमरे की ओर देखने लगा। सामने दीवार पर एक चौपाई लिखी हुई थी—

'करहु करहु किमी कोटि उपाया,
यहाँ न लागहि राउर माया।'

इस पद को पढ़कर रामदास के मुख पर एक मुस्कराहट दौड़ गई। यह पद उसी की स्त्री ने लिखा था। उसे अपनी स्त्री का स्मरण हो आया। वह सुशील थी, कितनी सुन्दर थी। उसमें कितनी उदारता थी, कितनी सहिष्णुता थी और कितना मान था। उसे उस दिन का स्मरण हो आया जब वह मृत्यु शय्या पर पड़ी थी। उस समय उसने क्षीण शब्द से कहा था—"मैं तो चली पर आपके बिना मुझे स्वर्ग में भी सुख नहीं मिलेगा। अब आप इन बच्चों पर स्नेह बनाये रखेंगे। ये बच्चे मैं आपको को सौंप जाती हूँ।

पच्चीस साल हो गये। उस समय विनोद १२ वर्ष का था और ललिता केवल नौ वर्ष की। अपनी स्त्री की मृत्यु के पश्चात् रामदास को कितना कष्ट हुआ, उसे वह ही जानता है। उसके

घर की सभी व्यवस्था नष्ट हो गई, सभी दास दासियों ने उसे धोखा दिया, उसकी स्त्री के साथ उसकी गृह-लक्ष्मी भी चली गई। घर में एक के बाद एक संकट आने लगे। उसकी आर्थिक-अवस्था हीन होने लगी और अन्त में वह ऋण से इतना दब गया कि उसको घर तक छोड़ना पड़ा।

रामदास शोक से अधीर होकर कमरे में टहलने लगा। दीवाल में एक अलमारी थी। उसने उस अलमारी को खोला। उसमें एक टूटा हुआ दर्पण था। उसने उस दर्पण को उठा लिया। उस दर्पण में संसार के कितने दृश्य प्रतिफलित हुए हैं। सौंदर्य और वीभत्सता, प्रेम और घृणा, क्रोध और तिरस्कार आदि सभी विभिन्न भावों की झलक उसके हृदय पर प्रतिबिम्बित हुई है। पर वह स्वयं निर्विकार है, निर्मल है, तभी अभी तक वह ज्यों का त्यों है। यह दर्पण वह कब लाया था? ठीक है उसे स्मरण हो आया—ललिता के जन्म दिन पर ही वह कलकत्ते से लौटा था। कलकत्ते में उसने वह दर्पण लिया था। उस समय वह कितना सुन्दर प्रतीत होता था, उसकी स्त्री भी उसे देखकर प्रसन्न हुई थी। कलकत्ते में वह बीस दिन तक विमला के यहां ठहरा था। विमला का घर ठीक गंगा के किनारे था। जब वह खिड़की खोल देता था तब वह अपने कमरे से ही गंगा का दृश्य देख लेता था। विमला की लड़की रत्नमाला उससे खूब हिलमिल गई थी। उसकी कितनी क्षीण बुद्धि थी। विमला ने उसका कितना अच्छा सत्कार किया था, उसकी कितनी

अच्छी सेवा की थी। उस समय विमला से उसकी कितनी घनिष्ठता थी, परन्तु अब वह भी सर्वथा अपरिचित हो गई है।

रामदास ने एक दीर्घ निःश्वास लेकर दर्पण रख दिया, इसके बाद वह अलमारी के दूसरे हिस्सों को देखने लगा। वह मानों अपने अतीत-जीवन के विलुप्त रत्नों को खोजने लगा। एक मिट्टी का दिया मिला। एक टूटी कंघी मिली दो-चार फूटी तसवीरें मिलीं। वह इन सब को बटोर कर ले आया और मेज पर रखकर वह फिर आराम कुर्सी पर लेट गया।

उसने मिट्टी के उस दिये को उठा लिया। यह यहाँ कैसे पड़ा रहा। यह दीपावली के उपलक्ष में जलाया गया था। वही उसके लिए अन्तिम दीपावली थी। उसके बाद तो उसका जीवन अंधकारमय हो गया और वह गृह भी तमोमय हो गया। मिट्टी का यह छोटा-सा प्रदीप स्वयं कितना क्षुद्र, कितना अशक्त है। यह तो एक प्राण-हीन, चेतना-हीन और शक्ति-हीन जड़ वस्तु है, पर किसी के स्नेहमय कोमल स्पर्श से यह कैसे ज्योतिर्मय हो जाता है। किसी से स्नेह पाकर वह स्वयं प्रकाशित होता है। और दूसरों को भी प्रकाश देता है। तब वह उल्लास का, शान्ति का और प्रेम का प्रदीप हो जाता है। तब उसकी ज्योति में कितनी उज्ज्वलता, कितनी स्निग्धता और कितनी कोमलता आ जाती है। मिट्टी के इस क्षुद्र प्रदीप में उसका आवेग, उसका हर्ष, उसका उल्लास विलीन है। मनुष्यों के जीवन प्रदीप के लिए भी तो किसी का स्नेह चाहिये। तभी वह तेजोमय होता है। स्नेह से

वंचित होने पर उसकी सारी शक्ति लुप्त हो जाती है।

उसी के जीवन में किसी एक समय में किसी एक ही व्यक्ति की प्रधानता थी। एक-एक कर कितने ही लोग उसके जीवन में आये और चले गये। उसके कभी दो सहचर नहीं हुए। जो एक अपनी इच्छा से उसके पास आया, वही कुछ समय तक उसका सहचर रह कर अपनी इच्छा से उसे छोड़ कर चला गया। वह स्वयं सदैव स्वच्छंद रहा। जब उसके मन में जैसी वृत्ति रही, तब उसने वैसा ही किया। उसने प्रशंसा और निन्दा दोनों की उपेक्षा की। सब लोगों के बीच में रहकर भी वह सब लोगों से पृथक् रहा है। इसीसे उसने जिसको अपनाया, उसको दृढ़ता पूर्वक अपनाया। पर ऐसी स्थिति ही होती गई कि सभी उससे अलग होते गये।

कंघी कितनी छोटी है परंतु आज उसने रामदास के हृदय में अतीत-स्मृतियों का द्वार खोल दिया। जब सुमित्रा उसके घर आई थी। तब वह अपने साथ वही कंघी ले आई थी। सुमित्रा के साथ उसका अठारह वर्ष का जीवन-काल सम्बद्ध था। उसे याद आया कि वह किस प्रकार सुमित्रा से पहले परिचित हुआ, किस प्रकार उससे घनिष्ठता बढ़ी और अंत में वह किस प्रकार उससे अलग हो गया। एक तेरह वर्ष की बालिका उसके नेत्रों के सामने आ गई। उसमें कितनी चँचलता थी, कितनी सुन्दरता थी, कितनी सरलता थी। उसने एक दिन पूछा—'बतलाओ तो मेरे केश कितने सुन्दर हैं ?' एक दिन आने में जरा विलम्ब होने

पर उसने खीझकर कहा—'क्या तुम यह समझते हो कि तुम्हारे लिये मैं रात भर बैठी राह देखती रहूँगी।' परन्तु उसकी इस खीझ में कितनी ममता थी और कितना स्नेह था। अपने पिता और भाई से भी अधिक वह उस पर विश्वास करने लगी थी। कुछ भी कष्ट होने पर वह उसी का आश्रय लेती थी, सुख में और दुःख में वही उसका अवलम्ब था। और फिर भाव परिवर्तन हुआ। अपराध उसी का था। सुमित्रा ने उसका अपराध अक्षम्य समझा। क्रोध, क्षोभ और वेदना में वह एक मात्र कंघी को अभिशाप के रूप में छोड़कर घर से चली गई।

साधारण मनुष्यों के जीवन में बड़ी-बड़ी घटनाएँ नहीं होती हैं। वे दूसरों के लिये कोई भी चिर-स्मरणीय बात नहीं कर जाते। परन्तु उनके सुख दुःख का यह जीवन-काल चिरंतन है। सभी लोग उसमें बहते चले जा रहे हैं। अपने अपने भावों की तरंगों में पड़कर सभी लोग डूबते, तराते, छिपते टकराते और चक्कर खाते चले जाते हैं। अपने दुःख में किस को किसी अन्य के सुख से हर्ष होता है? अपने उल्लास में किसे किसी अन्य के विषाद की सुधि रहती है? अपनी सिद्धि में दूसरे की हानि अपनी प्रतिष्ठा में दूसरे के अपमान का ध्यान किसे रहता है?

कंघी को छोड़कर रामदास ने फटी तसवीरों पर दृष्टिपात किया। भगवान् विष्णु का यह चित्र उसकी माता को बहुत प्रिय था। जब तक उसकी

माता जीवित थी तब तक वह बराबर दीपावली के अवसर पर प्रतिवर्ष लक्ष्मी के एक चित्र के साथ विष्णु का एक चित्र अवश्य लेती थी। उसी के कारण रामदास को भी उस चित्र से अनुराग हो गया। वह भी कैसा सुखद समय था। अपने माता और पिता के जीवनकाल में रामदास ने जिस स्वच्छन्दता का उपभोग किया, वह उनके परिवर्तित जीवन में दुर्लभ हो गया। वह कितना उत्पात करता था, कितना उपद्रव करता था, अपनी माँ को वह कितना तंग करता था। माँ उससे क्रुद्ध होती थी, डाँटती थी, पर जब वह उससे जो माँगता था, वह दे देती थी। दीपावली में वह माँ से दस रुपये लेकर ही छोड़ता था। दशहरे में वह पाँच से कम लेता ही न था। होली पर भी वह चार पाँच रुपये पा ही जाता था। वे रुपये उस समय उसको कुबेर की अक्षय-निधि से अधिक आनन्द देते थे। उसके उड़ाने में अधिक विलम्ब नहीं लगाता था। पर उसकी सारी लालसाएँ पूर्ण हो जाती थीं।

यह समय उसे प्राप्त नहीं हुआ। कितने सुख के साथ उसने वे दिन व्यतीत किये थे। उसका छात्र जीवन भी कितना सुखमय था। एक-एक कर कितने कितने ही मास्टरों से शिक्षा प्राप्त की थी। गुरुचरण ने उसको सबसे पहले अक्षर का ज्ञान कराया है। उसमें कितना वात्सल्य था, वह उस पर कितना प्रेम करता था। उसकी माता भी गुरुचरण की दीनावस्था देखकर उस पर विशेष कृपा करती थी। मासिक वेतन के अतिरिक्त गुरुचरण

अन्य वस्तु भी पा जाता था। वह ज्यों ही उसे पढ़ाकर रात को छुट्टी देता, त्योंही वह अपनी माँ के पास दौड़ कर और उन्हें कहानी सुनाने के लिये विवश करता था। माँ न जाने किस देश की राजकन्या की कथा कहा करतीं थीं, जिस के केश सोने के थे। बार-बार वह वही कहानियां सुना करता था। उसे कभी विरक्ति नहीं होती थी। सुनते-सुनते वह सो जाता था।

रामदास की आंखों में निद्रा-सी आने लगी। वह कुर्सी पर लेट गया। लेटते समय उसने कहा 'मां-मां मुझे नींद आ रही है।' वह अपनी वर्त्तमान स्थिति को भूल-सा गया। उसे ऐसा जान पड़ा कि वह अभी बच्चा ही है और अपनी माँ से अज्ञात देश की राजकुमारी की कथा सुन रहा है! रामदास की आँखों से यह संसार विलुप्त-सा होने लगा और वह स्वयं किसी छाया-लोक में जाने लगा।

थोड़ी देर बाद रामदास की पौत्री दासी के साथ उसी कमरे में आई। उसने रामदास को हिला कर कहा—'बाबा उठो, रसोई तैयार है।'

पर रामदास उठा नहीं। उसकी निद्रा अनन्त थी। वह मृत्यु की अनन्त गोद में विश्राम कर रहा था। (मानवता)

: सोलह :

दो बाँके

(श्री भगवती चरण वर्मा)

शायद ही कोई ऐसा अभागा हो जिसने लखनऊ का नाम न सुना हो; और युक्तप्रांत में ही नहीं बल्कि सारे हिन्दुस्तान में, और मैं तो यहां तक कहने को तैयार हूं कि सारी दुनियाँ में लखनऊ की शोहरत है। लखनऊ के सफेदा, आम, लखनऊ के खरबूजे, लखनऊ की रेवड़ियाँ; ये सब ऐसी चीजें हैं जिन्हें लखनऊ से लौटते समय लोग सौगात के तौर पर साथ ले जाया करते हैं, लेकिन कुछ ऐसी भी चीजें हैं जो साथ नहीं ले जाई जा सकतीं, और उनमें लखनऊ की जिन्दादिली और लखनऊ की नफ़ासत विशेष रूप से आती हैं।

ये तो वे चीजें हैं जिन्हें देसी और परदेसी सभी जान सकते हैं, पर कुछ ऐसी भी चीजें हैं जिन्हें कुछ लखनऊ वाले तक नहीं जानते, और अगर परदेसियों को इनका पता लग जाय तो समझिये कि उन परदेसियों के भाग खुल गए। इन्हीं विशेष चीजों में आते हैं लखनऊ के "बाँके"।

'बाँके' शब्द हिन्दी का है या उर्दू का, यह विवादग्रस्त विषय हो सकता है, और हिन्दी वालों का कहना है—इन हिन्दी वालों

में मैं भी हूँ—कि यह शब्द संस्कृत के 'वंकिम' शब्द से निकला है। पर यह मानना पड़ेगा कि जहाँ 'वंकिम' शब्द में कुछ गम्भीरता है, कभी-कभी कुछ तीखापन झलकने लगता है, वहाँ 'वाँके' शब्द में एक अजीब वाँकापन है। अगर जवान वाँका-तिरछा न हुआ तो आप निश्चय समझ लें कि उसकी जवानी की कोई सार्थकता नहीं; अगर चितवन वाँकी नहीं तो आँख का फोड़ लेना अच्छा है; वाँकी अदा और वाँकी झाँकी के बिना जिन्दगी सूनी हो जाय। मेरे खयाल से अगर दुनिया से वाँका शब्द उड़ जाय तो कुछ दिलचले लोग खुद-कुशी करने पर आमादा हो जायँगे। और इसीलिये मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि लखनऊ वाँका शहर है, और इस वाँके शहर में कुछ वाँके रहते हैं जिनमें गजब का वाँकापन है। यहाँ पर आप लोग शायद झल्लाकर यह पूछेंगे—'म्याँ यह 'वाँके' है क्या बला? कहते क्यों नहीं?' और मैं उत्तर दूँगा कि आप में सब्र नहीं; अगर इन वाँकों की एक वाँकी भूमिका नहीं हुई तो फिर कहानी किस तरह वाँकी हो सकती है!

हां; तो लखनऊ शहर में रईस हैं। तवायफें हैं और इन दोनों के साथ शोहदे भी हैं। वकौल लखनऊ वालों के, ये शोहदे ऐसे-वैसे नहीं हैं। ये लखनऊ की नाक हैं! लखनऊ की सारी बहादुरी के ये ठेकेदार हैं और ये जान ले लेने तथा जान दे देने पर आमादा रहते हैं। अगर लखनऊ से ये शोहदे हटा दिये जाँय तो लोगों का यह कहना "अजी लखनऊ तो जनानों का

शहर है।" सोलह आने सच्चा उतर जाय।

जनाब, इन्हीं शोहदों के सरगनों को लखनऊ वाले 'बाँके' कहते हैं। शाम के वक्त तहमत पहने हुए और कसरती बदन पर जालीदार बनियाइन पहन कर उसके ऊपर बूटेदार चिकन का कुरता डाटे हुए जब ये निकलते हैं तब लोग-बाग बड़ी हसरत की निगाहों से उन्हें देखते हैं। उस वक्त इनके पट्टेदार बालों में करीब आध पाव चमेली का तेल पड़ा रहता है, कान में इत्र की अनगिनती फुरहरियाँ खुँसी रहती हैं और एक बेले का गजरा गले में तथा एक हाथ की कलाई पर रहता है। फिर ये अकेले भी नहीं निकलते, इनके साथ शागिर्द शोहदों का जलूस रहता है, एक से एक बोलियाँ बोलते हुए, फबतियाँ कसते हुए और शेखियां हाँकते हुए। उन्हें देखने के लिए एक हजूम उमड़ पड़ता है।

तो उस दिन मुझे अमीनाबाद से नख्खास जाना था। पास में पैसे कम थे, इसलिए जब एक नवाब साहेब ने आवाज़ दी, 'नख्खास' तो मैं उचक कर उनके इक्के पर बैठ गया। यहाँ यह बतला देना बेजा न होगा कि लखनऊ के इक्के वालों में तीन चौथाई शाही खानदान के हैं, और यह उनकी बदकिस्मती है कि उनका वसीक़ा बन्द या कम कर दिया गया, और उन्हें इक्का हाँकना पड़ रहा है।

इक्का नख्खास की तरफ चला और मैंने मियाँ इक्के वाले से कहा, "कहिए नवाब साहेब! खाने-पीने भर को तो पैदा कर लेते हैं?"

इस सवाल का पूछा जाना था कि नवाब साहेब के उद्‌गारों के बाँध का टूट पड़ना था। बड़े करुण-स्वर में बोले—क्या बतलाऊँ हुजूर, अपनी क्या हालत है, कह नहीं सकता! खुदा जो कुछ दिखलाएगा, देखूँगा! एक दिन थे जब हम लोगों के बुजुर्ग हुकूमत करते थे। ऐशो-आराम की जिन्दगी बसर करते थे। लेकिन आज हमें—उन्हीं की औलाद को—भूखों मरने की नौबत आ गई। और हुजूर इस पेशे में कुछ रह नहीं गया। पहले तो तांगे चले, जी को समझाया-बुझाया 'म्याँ, अपनी-अपनी क़िस्मत! मैं भी ताँगा ले लूँगा, यह तो वक्त की बात है, मुझे भी फ़ायदा होगा। लेकिन क्या बतलाऊँ हुजूर, हालत दिनों-दिन बिगड़ती ही गई। अब देखिये मोटरों पर मोटरें चल रही हैं। भला बतलाइये हुजूर जो सुख इक्के की सवारी में है वह भला तांगे या मोटर में मिलने का? तांगे में पलथी मार कर आराम से बैठ नहीं सकते। जाते उत्तर की तरफ़ हैं, मुँह दक्खिन की तरफ़ रहता है। अजी साहेब, हिन्दुओं में मुर्दा उलटे सिर ले जाया जाता है, लेकिन तांगे में लोग जिन्दा ही उलटे सिर चलते हैं; और जरा गौर फ़रमाइये! ये मोटर शैतान की तरह चलती है; जहाँ जाती है वह बला की धूल उड़ाती है कि इंसान अंधा हो जाय। मैं तो कहता हूँ कि बिना जानवर के आप चलने वाली सवारी से दूर ही रहना चाहिए, उसमें शैतान का फेर है।

इक्के वाले नवाब और न जाने क्या-क्या कहते, अगर वह 'या अली!' के नारे से चौंक न उठते।

सामने क्या देखते हैं कि एक आलम उमड़ा पड़ रहा है। इक्का रक़ाबगंज के पुल के पास पहुँचकर रुक गया।

एक अजीब समाँ था। रक़ाबगंज के पुल के दोनों तरफ़ करीब पन्द्रह हजार की भीड़ थी, लेकिन पुल पर एक आदमी नहीं। पुल के एक किनारे पर करीब पचोस शोहदे लाठी लिए हुए खड़े थे, और दूसरे किनारे भी उतने ही। एक खास बात और थी कि पुल के एक सिरे पर सड़क के बीचोबीच एक चार-पाई रक्खी थी और दूसरे सिरे पर भी सड़क के बीचोबीच दूसरी। बीच-बीच में रुक-रुककर दोनों ओर से 'या अली!' के नारे लगते थे।

मैंने इक्के वाले से पूछा, "क्यों म्याँ, क्या मामला है?"

म्याँ इक्के वाले ने तमाशाई से पूछ कर बतलाया "हुजूर आज दो बाँकों में लड़ाई होने वाली है, उसी लड़ाई को देखने के लिए यह भीड़ इकट्ठी है!"-

मैंने फिर पूछा, "यह क्यों?"

म्याँ इक्के वाले ने जवाब दिया, "हुजूर, पुल के इस पार के शोहदों का सरग़ना एक बाँका है और उस पार के शोहदों का सरग़ना दूसरा बाँका। कल इस पार के शोहदे से पुल के उस पार के दूसरे शोहदे का कुछ झगड़ा हो गया और उस झगड़े में कुछ मार पीट हो गई। इस फ़िसाद पर दोनों बाँकों में कुछ कहा-सुनी हुई, और उस कहा-सुनी में ही मैदान बद दिया गया।"

चुप होकर मैं उधर देखने लगा। एकाएक मैंने पूछा, "लेकिन ये चारपाइयाँ क्यों आई हैं ?"

"अरे हुजूर ! इन बाँकों की लड़ाई कोई ऐसी-वैसी थोड़ी ही होगी; इनमें खून बहेगा और लड़ाई तब तक खत्म न होगी जब तक एक बाँका खत्म न हो जाय। आज तो एक-आध लाश गिरेगी। ये चारपाइयाँ इन बाँकों की लाश उठाने आई हैं। दोनों बाँके अपनी बीबी-बच्चों से रुखसत लेकर और कर्बला के लिए तैयार होकर आवेंगे।"

इसी समय दोनों ओर से 'या अली !' की एक बहुत बड़ी आवाज़ उठी। मैंने देखा कि पुल के दोनों तरफ हाथ में लाठी लिए हुए दोनों बाँके आ गये। तमाशाइयों में एक रुकता सा छा गया, सब लोग चुप हो गये।

पुल के इस पार वाले बाँके ने कड़क कर दूसरे पार वाले बाँके से कहा, "उस्ताद !"

और दूसरे पार वाले बाँके ने कड़क कर उत्तर दिया, "उस्ताद !"

पुल के इस पार वाले बाँके ने कहा, "उस्ताद आज खून हो जायगा, खून !"

पुल के उस पार वाले बाँके ने कहा, "उस्ताद आज लाशें गिर जायँगी, लाशें !"

पुल के इस पार वाले बाँके ने कहा, "उस्ताद आज क़हर हो जायगा, क़हर !"

पुल के उस पार वाले बाँके ने कहा "उस्ताद आज क़यामत बरपा हो जायगी, क़यामत !"

चारों ओर एक गहरा सन्नाटा फैला था। लोगों के दिल धड़क रहे थे, भीड़ बढ़ती ही जा रही थी।

पुल के इस पार वाले बाँके ने लाठी का एक हाथ घुमाकर एक क़दम बढ़ते हुए कहा, "तो फिर उस्ताद होशियार !"

पुल के इस पार वाले बाँके के शागिर्दों ने गगन-भेदी स्वर में नारा लगाया, "या अली !"

पुल के उस पार वाले बाँके ने भी लाठी का एक हाथ घुमा कर एक क़दम बढ़ते हुए कहा, "तो फिर उस्ताद सम्हलना !"

पुल के उस पार वाले बाँके के शागिर्दों ने गगन-भेदी स्वर में नारा लगाया, "या अली !"

दोनों तरफ़ से दोनों बाँके, क़दम ब क़दम लाठी के हाथ दिखलाते हुए तथा एक-दूसरे को ललकारते आगे बढ़ रहे थे, दोनों तरफ़ के बाँकों के शागिर्द हर क़दम पर "या अली !" के नारे लगा रहे थे, और दोनों तरफ़ के तमाशाइयों के हृदय उत्सुकता, कौतूहल तथा इन बाँकों की वीरता के प्रदर्शन के कारण धड़क रहे थे।

पुल के बीचोबीच, एक-दूसरे से दो क़दम की दूरी पर दोनों बाँके रुके। दोनों ने एक-दूसरे को थोड़ी देर गौर से देखा। फिर दोनों बाँकों की लाठियाँ उठीं, और दाहिने हाथ से बाएँ हाथ में चली गई।

इस पार वाले बाँके ने कहा, "फिर उस्ताद !"

उस पार वाले बाँके ने कहा, "फिर उस्ताद !"

इस पार वाले बाँके ने अपना हाथ बढ़ाया, और उस पार वाले बाँके ने अपना हाथ बढ़ाया। और दोनों के पंजे गुँथ गए।

दोनों बाँकों के शागिर्दों ने नारा लगाया, "या अली !"

फिर क्या था ! दोनों बाँके ज़ोर लगा रहे हैं, पंजा टस से मस नहीं हो रहा है। दस मिनट तक तमाशबीन सकते की हालत में खड़े रहे।

इतने में इस पार वाले बाँके ने कहा, "उस्ताद, गजब के कस है !"

उस पार वाले बाँके ने कहा, "उस्ताद बला का जोर है !"

इस पार वाले बाँके ने कहा, "उस्ताद अभी तक मैंने समझा था कि मेरे मुकाबिले का लखनऊ में कोई दूसरा नहीं है।"

उस पार वाले बाँके ने कहा, "उस्ताद आज कहीं जाकर मुझे अपनी जोड़ का जवाँ मर्द मिला !"

इस पार वाले बाँके ने कहा, "उस्ताद, तबीअत नहीं होती कि तुम्हारे जैसे बहादुर आदमी का खून करूँ !"

उस पार वाले बाँके ने कहा, "उस्ताद, तबीअत नहीं होती कि तुम्हारे जैसे शेर दिल आदमी की लाश गिराऊँ !"

थोड़ी देर के लिए दोनों मौन हो गए, पंजा गुँथा हुआ, टस से मस नहीं हो रहा है।

इस पार वाले बाँके ने कहा, "उस्ताद झगड़ा किस बात का है ?"

उस पार वाले बाँके ने कहा, "उस्ताद यही सवाल मेरे सामने है !"

इस पार वाले बाँके ने कहा, "उस्ताद पुल के इस तरफ़ के हिस्से का मालिक मैं !"

उस पार वाले बाँके ने कहा, "उस्ताद पुल के इस तरफ़ के हिस्से का मालिक मैं !"

और दोनों ने एक साथ कहा, "पुल की दूसरी तरफ से न हमें कोई मतलब है और न हमारे शागिर्दों को !"

दोनों के हाथ ढीले पड़े, दोनों ने एक दूसरे को सलाम किया और फिर दोनों घूम पड़े। छाती फुलाए हुए दोनों बाँके अपने शागिर्दों से आ मिले। बिजली की तरह यह खबर फैल गई कि दोनों बाँके बराबरे की जोड़ छूटे और सुलह हो गई।

इक्के वाले को पैसे देकर मैं वहाँ से पैदल ही लौट पड़ा क्योंकि देर हो जाने के कारण नख्खास जाना बेकार था।

इस पार वाला बाँका अपने शागिर्दों से घिरा हुआ चल रहा था। शागिर्द कह रहे थे, "उस्ताद इस वक्त बड़ी समझदारी से काम लिया वरना आज लाशें गिर जातीं !"—"उस्ताद हम सब के सब अपनी-अपनी जान दे देते !"—"लेकिन उस्ताद ग़ज़ब के कस हैं।"

इतने में किसी ने बाँके से कहा, "मुला स्वाँग खूब भर्‌यो !"

बाँके ने देखा कि एक लम्बा तगड़ा देहाती जिसके हाथ में एक भारी सा लट्ठ है, सामने खड़ा मुस्करा रहा है।

उस वक्त बाँके खून का घूँट पी कर रह गए। उन्होंने सोचा—एक बाँका दूसरे बाँके से ही लड़ सकता है, देहातियों से उलझना शोभा नहीं देता।

और शागिर्द भी खून का घूट पी कर रह गए। उन्होंने सोचा—भला उस्ताद की मौजूदगी में उन्हें हाथ उठाने का कोई हक़ भी है ?

: सत्रह :

पिंजरा

(श्री उपेन्द्रनाथ, 'अश्क')

शान्ति ने ऊब कर काग़ज़ के टुकड़े-टुकड़े कर दिये और उठ कर अनमनी-सी कमरे में घूमने लगी। उसका मन स्वस्थ नहीं था, लिखते-लिखते उसका ध्यान बट जाता था। केवल चार पंक्तियाँ वह लिखना चाहती थी, पर वह जो कुछ लिखना चाहती थी उससे लिखा न जाता था। भावावेश में कुछ का कुछ लिख जाती थी। छः पत्र वह फाड़ चुकी थी, वह सातवाँ था।

घूमते-घूमते वह चुपचाप खिड़की में जा खड़ी हुई। सन्ध्या का सूरज दूर पश्चिम में डूब रहा था। माली ने क्यारियों में पानी छोड़ दिया था और दिन-भर के मुरझाये फूल जैसे जीवन-दान पाकर खिल उठे थे। हल्की-हल्की ठंडी हवा चलने लगी थी। शान्ति ने दूर सूरज की ओर निगाह दौड़ाई—नीली-पीली सुनहरी किरणें, जैसे डूबने से पहले, उन छोटे-छोटे बच्चों के खेल में जी भर हिस्सा ले लेना चाहती थीं जो सामने के मैदान की हरी-भरी घास पर उन्मुक्त खेल रहे थे। सड़क पर दो कमसिन युवतियां हँसती, चुहलें करतीं, उछलती, कूदती चली जा रही थीं। शान्ति ने एक दीर्घ निश्वास छोड़ा और फिर मुड़कर उसने अपने इर्द-गिर्द एक थकी हुई निगाह दौड़ाई—छत पर बड़ा पंखा

धीमी आवाज से अनवरत चल रहा था। दरवाज़ों पर भारी पर्दे हिल रहे थे और भारी कौच और उन पर रखे हुए रेशमी गद्दे, गलीचे और दरम्यान में रखे हुए छोटे-छोटे अठकोने मेज़ और उन पर पीतल के नन्हें-नन्हें हाथी और फूलदान—और उसने अपने-आप को उस पत्ती-सा महसूस किया, जो विशाल, स्वच्छन्द आकाश के नीचे, खुली स्वतन्त्र हवा में आम की डाली से बँधे हुए पिंजरे में लटक रहा हो।

तभी नौकर उसके छोटे लड़के को जैसे बरबस खींचता-सा लाया। धोबी की लड़की के साथ वह खेल रहा था। आव देखा न ताव और शान्ति ने लड़के को पीट दिया—क्यों तू उन कमीनों के साथ खेलता है, क्यों खेलता है तू! इतने बड़े बाप का बेटा होकर! और उसकी आवाज़ चीख़ की हद को पहुँच गई। हैरान-से खड़े नौकर ने बढ़ कर जबर्दस्ती बच्चे को छुड़ा लिया। शान्ति जाकर धम से कौच में धँस गई और उसकी आँखों से अनायास ही आँसू बह निकले!

× × ×

तब वहीं बैठे-बैठे उसकी आँखों के सामने अतीत के कई चित्र फिर गये!

÷ × ×

उसके पति तब लांडरी का काम करते थे। बाइबल सोसाइटी के सामने जहाँ आज एक दन्दानसाज़ बड़े धड़ल्ले से लोगों दाँत उखाड़ने में निमग्न रहते हैं, उनकी लांडरी थी। आय

अच्छी थी, पर खर्च भी कम न था। ३५ रुपया दो दुकान का किराया ही देना पड़ता था और फिर कपड़े धोनें और स्त्री करने के लिये जो तबेला ले रखा था, उसका किराया अलग था। इसके अतिरिक्त धोबियों को वेतन, कोयले, मसाला, और सौ दूसरे पचड़े! इस सब खर्च की व्यवस्था के बाद जो थोड़ा बहुत बचता था, उसमें बड़ी कठिनाई के साथ घर का खर्च चलता था और घर उन्होंने दुकान के पीछे ही महीलाल स्ट्रीट में ले रखा था।

महीलाल स्ट्रीट जैसी अब है वैसी ही तब भी थी। मकानों का रूप यद्यपि इन दस वर्षों में कुछ बदल गया है, किन्तु मकानों में कुछ भी अधिक अन्तर नहीं आया। अब भी इस इलाके में कमीन बसते हैं तब भी वही बसते थे। सील-भरी अँधेरी कोठरियाँ चमारों, धीवरों और शुद्ध हिन्दुओं का निवासस्थान थीं। एक ही कोठरी में रसोई, बैठक, शयन-गृह—और वह भी ऐसा, जिसमें सास-श्वसुर, बेटा-बहू, लड़कियाँ-लड़के, सब एक साथ सोते हों।

जिस मकान में शान्ति रहती थी, उसके नीचे टेंडो चमार अपने आठ लड़के-लड़कियों के साथ रहता था, दूसरी चौड़ी गली में मारवाड़ी की दूकान थी और जिधर दरवाजा था, उधर भंगी रहते थे। उनके दरवाजे से ज़रा ही परे भंगियों ने तंदूर लगा रखा था, जिसका धुआँ सुबह-शाम उनकी रसोई में आ जाया करता था, जिससे शान्ति को प्रायः रसोई की खिड़की

बन्द रखनी पड़ती थी। दिन-रात वहाँ चारपाइयाँ बिछी रहती थीं और कपड़ा बचाकर निकलना प्रायः असम्भव होता था।

गर्मियों के दिन थे और म्यूनिसिपैलिटी का नल काफी दूर अनारकली के पास था, इसलिए इन ग़रीब लोगों की सहूलियत के ख़याल से शान्ति ने अपने पति की सिफ़ारिश पर नीचे डेवड़ी के नल से उन्हें पानी लेने की इजाज़त दे दी थी। किन्तु जब उन्हें उस मकान में आये कुछ दिन बीते तो शान्ति को मालूम हो गया कि यह उदारता बड़ी महँगी पड़ेगी। एक दिन जब उसके पति नहाने के बाद साबुन की डिब्रिया नीचे ही भूल आये और शान्ति उसे उठाने गई तो उसने उसे नदारद पाया, फिर कुछ दिन बाद तौलिया गायब हो गया, और इसी तरह दूसरे-तीसरे दिन कोई-न-कोई चीज गुम होने लगी। हारकर एक दिन शान्ति ने अपने पति के पीछे पड़कर नल की टोंटी पर लकड़ी का छोटा सा बकस लगवा दिया और चाबी उसकी अपने पास रख ली।

दूसरे दिन, जब एक ही धोती से शरीर ढाँके वह पसीने से निचुड़ती हुई, चूल्हे के आगे बैठी रोटी की व्यवस्था कर रही थी तो उसने अपने सामने एक काली सी लड़की को खड़ी पाया।

लड़की उसकी समवयस्क ही थी। रंग उसका बेहद काला था और शरीर पर उसने अत्यन्त मैली कुचैली धोती और बंडी पहन रखी थी। वह अपने गहरे काले बालों में सरसों ही का

तेल डालती होगी क्योंकि उसके मस्तक पर वालों के नीचे पसीने के कारण तेल में मिली हुई मैल की एक रेखा वन रही थी। चौड़ा-सा मुँह और चपटी सी नाक! शान्ति के हृदय में क्रोध और घृणा का तूफान उमड़ आया। आज तक घर में जमादारिन के अतिरिक्त नीचे रहने वाला किसी कमीन लड़की को ऊपर आने का साहस न हुआ था और न स्वयं ही उसने किसी से वातचीत करने की कोशिश की थी।

लड़की मुस्करा रही थी, और उसकी आँखों में विचित्र-सी चमक थी।

क्या वात है—जैसे आँखों ही आँखों में शान्ति ने क्रोध से पूछा।

तनिक मुस्कराते हुए लड़की ने प्रार्थना की कि वीवीजी पानी लेना है।

'हमारा नल भंगी-चमारों के लिये नहीं!'

'हम न भंगी हैं न चमार!'

'फिर कौन हो?'

'मैं वीवीजी, सामने के मन्दिर के पुजारी की लड़की...।

लेकिन शान्ति ने आगे न सुना था। उसे लड़की से वातें करते करते घिन आती थी। धोती के छोर से चावी खोलकर उसने फेंक दी।

× × ×

इस काले-कलोटे शरीर में दिल काला न था। और शीघ्र ही शान्ति को इस बात का पता चल गया। रोज ही पानी लेने के वक्त चाबी के लिये गोमती आती। गली में पूर्वियों का जो मन्दिर था, वह उसके पुजारी की लड़की थी। अमीरों के मंदिरों के पुजारी भी मोटरों में घूमते हैं। यह मन्दिर था ग़रीब पूर्वियों का, जिनमें प्रायः सब चौकीदार, चपरासी, साईस अथवा मज़दूर थे। पुजारी का कुटम्ब भी खुली गली के एक ओर भंगियों की चारपाइयों के सामने सोता था। और जब रात को कोई ताँगा उधर गुज़रता तो प्रायः किसी न किसी की चारपाई उसके साथ घिसटती हुई चली जाती। मन्दिर में कुआँ तो था, पर जब से इधर नल आया उस पर डोल और रस्सी कभी ही रही और फिर जब समीप ही किसी को डेवढ़ी के नल से पानी मिल जाय तो कुएँ पर बाज़ू तोड़ने की क्या ज़रूरत है, इसलिए गोमती पानी लेने और कुछ पानी लेने के बहाने बातें करने रोज ही सुबह-शाम आ जाती। बटलोही नल के नीचे रखकर, जिस में सदैव पान के पत्ते तैरा करते, वह ऊपर चली आती और फिर बातों बातों में भूल जाती कि वह पानी लेने आई है और उस समय तक न उठती जब तक उसकी बुढ़िया दादी गली में अपनी चारपाई पर बैठी हुई चीख़-चीख़ कर गालियाँ देती हुई उसे न पुकारती।

इसका यह मतलब नहीं कि इस बीच में शान्ति और गोमती में मित्रता हो गई थी। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि शाँति

जब रसोई में खाना बनाती अथवा अन्दर कमरे में बैठी कपड़े सीती, तो उसको गोमती का सीढ़ियों में बैठकर बातें करते रहना बुरा नहीं लगता था। कई तरह की बातें होती—मुहल्ले के भङ्गियों की बातें, चमारों के घरेलू झगड़ों की बातें और फिर कुछ गोमती की निजी बातें। इस बीच में शान्ति को मालूम हो गया कि गोमती का विवाह हुए वर्षों बीत चुके हैं, पर उसने अपने पति की सूरत नहीं देखी। बेकार है, इसलिए न वह उसे लेने आता है और न उसके पिता इसे इसके साथ भेजते हैं।

कई बार छेड़ने की गर्ज़ से, या कई बार आनन्द मात्र लेने की गर्ज से ही शान्ति उससे उसके पति के सम्बन्ध में और उसके अपने मनोभावों के सम्बन्ध में प्रश्न पूछती थी। उत्तर देते समय गोमती शर्मा जाती थी।

किन्तु इतना सब होते हुए भी उसकी जगह वहीं सीढ़ियों में ही बनी रही।

+ + +

फिर किस प्रकार पुजारी की वह काली-कलूटी लड़की वहाँ से उठकर, उसके इतने समीप आ गई कि शान्ति ने एक बार अनायास उसे आलिंगन में लेकर कह दिया—आज से तुम मेरी बहन हुई गोमती—वह सब आज भी शान्ति को स्मरण था।

+ ÷ +

सर्दियों की रात थी और अनारकली में सब ओर धुआँ-ही-धुआँ हो रहा था। ऐसा प्रतीत होता था जैसे लाहौर के समस्त तंदूरों, होटलों, घरों और कारखानों से सारा दिन उठने वाले धुएँ ने साँझ होते ही इकट्ठे होकर अनारकली पर आक्रमण कर दिया हो। शान्ति अपने नन्हें को कंधे से लगाये, हाथों में कुछ हल्के-फुल्के लिफ़ाफ़े थामे क्रय-विक्रय करके चली आ रही थी। वह कई दिन के अनुरोध के बाद अपने पति को इधर ला सकी थी और उन्होंने जी-भर खाया-पिया और खरीद किया था। अनारकली के मध्य बंगाली रसगुल्लों की जो दूकान है, वहाँ से रसगुल्ले खाने को शान्ति का बड़ा मन होता था, पर उसके पति को कभी इतनी फ़ुर्सत ही न हुई थी कि वहाँ तक सिर्फ रसगुल्ले खाने के लिये जा सकें। अस्पताल रोड के सिरे पर हलवाई के साथ जो चाटवाले की दूकान है वहाँ से चाट खाने को शान्ति की बड़ी इच्छा थी, पर चाट ऐसी निकम्मी चीज खाने के लिये काम छोड़कर जाने का अवकाश शान्ति के पति के पास कहाँ? कई दिनों से वह अपने उम्मी के लिए कुछ गर्म कपड़ों के टुकड़े खरीदना चाहती थी। सर्दी बढ़ रही थी और उसके पास एक भी कोट न था। और फिर गर्म कपड़ा न सही, वह चाहती थी कि कुछ ऊन ही मोल ले ली जाय, ताकि नन्हें का स्वेटर बुन दिया जाय। पर उसके पति 'हूँ' 'हाँ' करके टाल जाते थे, किन्तु उस दिन वह निरन्तर महीने भर तक अनुरोध करने के बाद उन्हें अपने साथ अनारकली ले जाने में

सफल हुई थी। और उस दिन उन्होंने जी-भर बंगाली के रस-गुल्ले और चाटवाले की चटपटी चाट खाई थी; बल्कि बलुए में मोहन के पकौड़े और मटरों वाले आलुओं के स्वाद भी चक्खे थे। फिर उम्मी के लिए कपड़ा भी खरीदा था और ऊन भी मोल ली थी और दो आने दर्जन ब्लेडों वाली गुडबोग की डिबिया तथा एक कालगेट साबुन की दो आने वाली टिकिया उसके पति ने भी खरीदी थी। कई दिनों से वे उन्हीं पुराने ब्लेडों को शीशे के ग्लास में तेज करके नहाने वाले साबुन से ही हजामत बनाते आ रहे थे और उस दिन शान्ति ने यह सब खरीदने के लिए उन्हें बस विवश कर दिया था। और दोनों जने यह सब खरीद कर खर्च करने के आनन्द की अनुभूति से पुलकित चले आ रहे थे।

दिसम्बर का महीना था और सूखा जाड़ा पड़ रहा था। शान्ति ने अपने सस्ते पर गर्म शाल को नन्हें के गिर्द और अच्छी तरह लपेटते हुए अचानक कहा—निगोड़ा सूखा जाड़ा पड़ रहा है। सुनती हूँ नगर में बीमारी फैल रही है।

पर उसके पति चुपचाप धुएँ के कारण कड़वी हो जानेवाली अपनी आँखों को रूमाल से मलते चले आ रहे थे।

शान्ति ने फिर कहा—हमारी अपनी गली में कई लोग बीमार हो गये हैं। परसों टुंडी चमार का लड़का निमोनिया से मर गया।

तभी शाल में लिपटा-लिपटा बच्चा हल्के-हल्के दो बार

खाँसा और शान्ति ने उसे और भी अच्छी तरह शाल में लपेट लिया।

उसकी बात को सुनी-अनसुनी करके उसके पति ने कहा—आज बेहद बदपरहेजी की है, पेट में सख्त गड़बड़ी हो रही है।

× × ×

घर आकर शान्ति ने जब लड़के को चारपाई पर लिटाया और मस्तक पर हाथ फेरते हुए उसके बालों को पिछली तरफ किया तो वह चौंक कर पीछे हटी। उसने डरी हुई निगाहों से अपने पति की ओर देखा। वे सिर हाथों में दबाये नाली पर बैठे थे।

उम्मी का माथा तो तवे की तरह तप रहा है—उसने बड़ी कठिनाई से गले को अचानक अवरुद्ध कर देने वाली किसी चीज़ को बरबस रोक कर कहा।

लेकिन उसके पति को क़ै हुई।

शान्ति का कण्ठ अवरुद्ध-सा होने लगा था और उसकी आँखें भर-सी आई थीं, पर अपने पति को क़ै करते देख बच्चे का ख्याल छोड़ वह उनकी ओर भागी। पानी लाकर उनको कुल्ला कराया। निढाल-से होकर वे चारपाई पर पड़ गये पर कुछ ही क्षण बाद उन्हें फिर मतली हुई।

शान्ति के हाथ-पाँव फूल गये। घर में वह अकेली। सास, माँ पास नहीं, कोई दूसरा नाता-रिश्ता भी समीप नहीं और

नौकर—नौकर रखने की गुंजायश ही कभी नहीं निकली। वह कुछ क्षण के लिए घबरा गई। एक उड़ी-उड़ी-सी दृष्टि उसने अपने ज्वर से तपते हुए बच्चे और बदहजमी से निढ़ाल पति पर डाली। अचानक उसे गोमती का ख्याल आया। शान्ति अकेली कभी गली में नहीं उतरी थी, पर सब संकोच छोड़ वह भागी-भागी नीचे गई। अपनी कोठरी के बाहर, गली की ओर, एकमात्र ईंटों के छोटे-से पर्दे की ओट से बने हुए, रसोईघर में बैठी गोमती रोटी बेल रही थी और चूल्हे की आग से उसका काला मुख चमक-सा रहा था। शान्ति ने देखा—उसका बड़ा भाई अभी खाना खाकर उठा है। तब आगे बढ़कर इसने इशारे से गोमती को बुलाया। तवे को नीचे उतार और लकड़ी को बाहर खींचकर गोमती उसी तरह भागी आई। तब विनीत-भाव से संक्षिप्त में शान्ति ने अपने पति तथा बच्चे की हालत का उल्लेख किया और फिर प्रार्थना की कि वह अपने भाई से कह कर तत्काल किसी डाक्टर को बुला दे। उनकी लांडरी के साथ ही जिस डाक्टर की दूकान है, वह सुना है पास ही लाज रोड पर रहता है, यदि वह आ जाय तो बहुत ही अच्छा हो। और फिर साड़ी की छोर से पाँच रुपये का एक नोट खोल शान्ति ने गोमती के हाथ में रख दिया कि फीस चाहे पहले ही क्यों न देनी पड़े पर डाक्टर को ले अवश्य आये। और फिर चलते-चलते उसने यह भी प्रार्थना की कि रोटी पकाकर संभव हो तो तुम ही ज़रा आ जाना, उम्मी''

शान्ति का गला भर आया था। गोमती ने कहा था—आप घबरायें नहीं, मैं अभी भाई को भेज देती हूँ और मैं भी अभी आई और यह कहकर वह भागती-सी चली गई थी।

शान्ति वापस मुड़ी, तो सीढ़ियां चढ़ते-चढ़ते उसने महसूस किया कि शंका और भय से उसके पाँव काँप रहे हैं और उस का दिल धक्-धक् कर रहा है।

ऊपर जाकर उसने देखा—उसके पति ऊपर से उतर रहे हैं। हाथ में उनके खाली लोटा है, चेहरा पहले से भी पीला हो गया है, और माथे पर पसीना छूट गया है।

शान्ति के उड़े हुए चेहरे को देखकर उन्होंने हँसने का प्रयत्न करते हुए कहा—घबराओ नहीं, सर्दियों में हैज़ा नहीं होता।

शान्ति ने रोते हुए कहा—आप ऊपर क्यों गये, वहीं नाली पर बैठ जाते। किन्तु जब पति ने नाली की ओर और फिर चारपाई पर पड़े हुए बीमार बच्चे की ओर इशारा किया, तो शान्ति चुप हो गई। उसने पहले सहारा देकर पति को बिस्तरे पर लिटाया फिर नाली पर पानी गिराया, फिर दूसरे कमरे में बिस्तर बिछा, बच्चे को उस पर लिटा आई। तभी गोमती आ गई। खाना तो सब खा चुके थे, अपने हिस्से का आटा उठा, आग बुझा, वह भाग आई थी।

शान्ति ने कहा—मैं उम्मी को उधर कमरे में लिटा आई हूँ।

मुझे डर है उसे सर्दी लग गई है साँस उसे और भी कठिनाई से आने लगी है और खाँसी भी बढ़ गई है। निचली कोठरी में पड़े हुए पुराने लिहाफ़ से कपड़े ले लो और अँगीठी में कोयले डाल उसकी छाती पर जरा उस से सेंक दो। इनके पेट में गड़बड़ है। मैं इधर इसका कुछ उपचार करती हूँ। कुछ नहीं तो गर्म पानी करके बोतल ही फेरती हूँ।

गोमती ने कहा—इन्हें बीबी जी कोई हाज़मे की चीज़ दो। हमारे घर तुम्मे की अजवायन है। मैं उसमें से कुछ लेती आई हूँ, जब तक डाक्टर आये उसे ही जरा गर्म पानी से इन्हें दे दो।

बिना किसी तरह की हिचकिचाहट के शान्ति ने मैली-सी पुड़िया में बँधी काली-सी अजवाइन ले ली थी और गोमती अँगीठी में कोयले डाल नीचे कपड़े लेने भाग गई थी।

× × ×

बाहर शाम बढ़ चली थी। वहीं कमरे के अँधेरे में बैठे-बैठे शान्ति की आँखों के आगे चिन्ता और फ़िक्र के वे सब दिन रात फिर गये। उसके पति को हैज़ा तो न था किन्तु गैस्ट्रो ऐन्टिराइटिस (Gostro enteritis) तीव्र किस्म का था। डाक्टर के आने तक शान्ति ने गोमती के कहने पर उन्हें तुम्मे की अजवाइन दी थी, प्याज भी सुँघाया था और गोमती अँगीठी उठाकर दूसरे कमरे में बच्चे की छाती पर सेंक देने चली गई थी। डाक्टर के आने पर मालूम हो गया था कि उसे

निमोनिया हो गया है और अत्यन्त सावधानी की आवश्यक्ता है।

शान्ति अपने पति और अपने बच्चे, दोनों की एक साथ कैसे तीमारदारी करती, उसने अपनी विवशता से गोमती की ओर देखा था। पर उसे होंठ हिलाने की जरूरत न पढ़ी थी, बच्चे की सेवा-शुश्रुषा का समस्त भार गोमती ने अपने कंधों पर ले लिया था। शान्ति को मालूम भी न हुआ था कि वह कब घर जाती है, कब घरवालों को खाना खिलाती है या खाती है या खिलाती खाती भी है या नहीं। उसने तो जब देखा उसे छाया की भाँति बच्चे के पास पाया। कई दिन तक एक ही जून खाकर गोमती ने बच्चे की तीमारदारी की थी

× × ×

दोपहर का समय था, उसके पति दूकान पर गये हुए थे। उम्मी को भी अब आराम था और वह उसकी गोद से लगा सोया पड़ा था और उसके पास ही फर्श पर टाट बिछाये, गोमती पुराने ऊन के धागों से स्वेटर बुनना सीख रही थी। इतने दिनों की थकी-हारी उनींदी शान्ति की पलकें धीरे-धीरे बन्द हो रही थीं, वह उन्हें खोलती थी पर वे फिर बन्द हो-हो जाती थीं। आखिर वह वैसे ही पड़ी-पड़ी सो गई थी। जब वह फिर उठी तो उसने देखा, उम्मी रो रहा है, और गोमती उसे बड़े प्यार से सुरीली आवाज़ में थपक-थपक कर लोरी दे रही

है। शान्ति ने फिर आँखें बन्द कर लीं। उसने सुना गोमती धीमे-धीमे स्वर से गा रही थी :

आ री कक्को, जा री कक्को, जङ्गल पक्को बेर
भय्या हाथे ढेला, चिड़ैया उड़े जा !

और फिर :

आ री चिड़ैया ! दो पप्पड़ा पकाए जा !
भय्या हाथे ढेला, चिड़ैया उड़े जा !

बच्चा चुप कर गया था। लोरी खत्म करके उसने बच्चे को गले से लगा कर चूम लिया। शान्ति ने अर्ध-निमीलित आँखों से देखा। बच्चे के पीले जर्द सूखे से मुख पर गोमती का काला स्वस्थ मुख झुका हुआ है। सुख के आँसू उसकी आँखों में उमड़ आये। उसने उठकर गोमती से बच्चे को ले लिया था और जब वह फिर टाट पर बैठने लगी थी तो दूसरे हाथ से शान्ति ने उसका हाथ पकड़ चारपाई पर बिठाते हुए, उसे अपने बाजू से बाँध लिया था और कहा था—आज से तुम मेरी बहिन हुई गोमती।

× × ×

आँखें बन्द किये शान्ति इन्हीं स्मृतियों में गुम थी, उसकी आँखों से चुपचाप आँसू बह रहे थे कि अचानक उसके पति अन्दर दाखिल हुए। किसी जमाने में लांडरी चलाने वाले और समय पड़ने पर, स्वयं अपने हाथ से स्त्री गर्म करके कपड़ों को

प्रेस करने में भी हिचकिचाहट न महसूस करने वाले ला० दीनदयाल और लाहौर की प्रसिद्ध फर्म 'दीनदयाल एण्ड सन्ज' के मालिक प्रख्यात शेयर ब्रोकर लाला दीनदयाल में महान् अन्तर था। इस दस वर्ष के अर्से में उनके वाल यद्यपि पक गये थे, किन्तु शरीर कहीं अधिक स्थूल हो गया था। ढीलेढाले और प्रायः लांडरी के मालिक होते हुए भी मैले कपड़े पहनने की जगह अब उन्होंने अत्यन्त बढ़िया किस्म का रेशमी सूट पहन रखा था और पाओं में श्वेत रेशमी जुराबें तथा काले हल्के सेंडल पहने हुए थे।

शान्ति ने झट रूमाल से आँखें पोंछ लीं।

बिजली का बटन दवाते हुए उन्होंने कहा—यहाँ अँधेरे में क्यों पड़ी हो। उठो वाहर वाग में घूमो-फिरो और फिर वोले इन्द्रानी का फ़ोन आया था कि बहिन यदि चाहें तो आज सिनेमा देखा जाय।

वहिन—दिल-ही-दिल में विषाद से शान्ति मुस्कराई और उसके सामने एक ओर काली-कलूटी-सी लड़की का चित्र खिंच गया जिसे कभी उसने वहिन कहा था। किन्तु प्रकट उसने सिर्फ इतना कहा—मेरी तवीयत ठीक नहीं !

मुँह फुलाए हुये ला० दीनदयाल बाहर चले गये !

तव आँखों को फिर एक बार पोंछकर और तनिक स्वस्थ होकर, शान्ति मेज के पास आई और कुर्सी पर वैठ, पैड अपनी ओर को खिसका, कलम उठाकर उसने लिखा—

वहिन गोमती,

तुम्हारी वहिन अब बड़ी बन गई है। बड़े आदमी की बीबी है। बड़े आदमियों की बीवियाँ अब उसकी वहनें हैं। पिंजरे में बन्द पत्ती को कब इजाजत होती है कि स्वच्छन्द, स्वतन्त्र विहार करने वाले अपने हमजोलियों से मिले? मैंने तुम्हें कल फिर आने के लिये कहा था, पर अब तुम कल न आना। अपनी इस वंदिनी वहिन को भूलने की कोशिश करना।

—शान्ति

इस वार उसने एक पंक्ति भी नहीं काटी और न कागज ही फाड़ा। हाँ, एक वार लिखते-लिखते फिर आँखें भर आने से जो एक-दो आँसुओं की बूँदें पत्र पर अनायास ही गिर पड़ी थीं उन्हें उसने ब्लाटिंग पेपर से सुखा दिया था। फिर पत्र को लिफाफे में बन्द करके उसने नौकर को आवाज दी और उसके हाथ में लिफ़ाफ़ा देकर कहा कि महोलाल स्ट्रीट में पूर्वियों के मन्दिर के पुजारी की लड़की गोमती को दे आये। और फिर समझाते हुए कहा—गोमती, कुछ ही दिन हुये अपनी ससुराल से आई है।

पत्र लेकर नौकर चला ही था कि शान्ति ने फिर आवाज दी और पत्र को हाथ से लेकर फाड़ डाला। फिर धीरे से उसने कहा—तुम गोमती से कहना कि बीबी अचानक आज मैके जा रही हैं और दो महीने तक वापस न लौटेंगी।

यह कहकर वह फिर खिड़की में जा खड़ी हुई और अस्त

हो जाने वाले सूरज के स्थान पर ऊपर की ओर बढ़ते हुए अँधेरे को देखने लगी।

बात इतनी ही थी कि आज दोपहर को जब वे ब्रिज खेल रहे थे तब नौकर ने आकर खबर दी थी कि महीलाल स्ट्रीट के पुजारी की लड़की गोमती आई है। तब खेल को बीच ही में छोड़कर, और भूलकर कि उसके पार्टनर राय साहब लाला बिहारीलाल हैं, वह भाग गई थी और उसने गोमती को अपनी भुजाओं में मींच लिया था और फिर वह उसे अपने कमरे में ले गई थी तब दोनों बहुत देर तक अपने दुःख-सुख की बातें करती रही थीं। शान्ति ने जाना था कि किस प्रकार गोमती का पति काम करने लगा, उसे ले गया और उसे चार बच्चों की माँ बना दिया और गोमती ने उम्मी का और दूसरे बच्चों का हाल पूछा था। ला० दीनदयाल इस बीच में कई बार बुलाने आये थे; पर वह न गई थी और जब दूसरे दिन आने का वादा लेकर उसने गोमती को विदा किया था तो उसके पति ने कहा था तुम्हें शर्म नहीं आती, उस उजड्ड और गँवार औरत को लेकर तुम बैठी रहीं, तुम्हें मेरी इज्ज़त का ज़रा भी ख्याल नहीं उसे बगल में लिए उन सब के सामने से गुजर गईं। राय साहब और उनकी पत्नी हँसने लगे और आखिर प्रतीक्षा कर करके चले गये......।

इसके बाद उन्होंने और भी बहुत कुछ कहा था, लेकिन शान्ति ने तो फैसला कर लिया था कि वह पिंजरे को पिंजरा ही समझेगी और उड़ने का प्रयास न करेगी।

: अठारह :

प्रतिमा

(श्री अनन्त गोपाल शेवड़े)

'ओ री लावण्य की प्रतिमा !'—कलाकार सम्पूर्ण सफलता के आनन्द से विह्वल हो पुकार उठा। उसकी हर्षातिरेक से विकम्पित आवाज सारे स्टूडियो में गूंज उठी। उसका शरीर सिहर उठा। उसे लगा; मानों आज उसके कदमों पर दुनिया का साम्राज्य टूट पड़ा हो। और ऐसा क्यों न हो? बरसों से जो साध वह अपने दिल में एक मीठे रहस्य की तरह छिपाये बैठा था, आज वह परिपूर्ण हुई। उसके दिल ने गवाही दी कि बेशक उसकी जिन्दगी का सब से मधुर, सब से गहन, सब से पवित्र सपना आज पूरा हुआ—आज जीवन सार्थक हुआ। अब इस क्षण के बाद मरण भी आ जाय, तो वह अमरत्व ही होगा; क्योंकि उसका शरीर भले ही नष्ट हो जाय, वह स्वयं ही इस कला-वस्तु के रूप में शाश्वत है, चिरन्तन है, अविनाशी है। मानव की जन्म-जन्मान्तर की सृजन-क्षुधा मानो इस अप्रतिम प्रतिमा के रूप में तृप्त हो गई।

वह मूर्तिकार था मिट्टी या पत्थर को तोड़कर मरोड़कर फिर तोड़ कर और फिर मरोड़ कर वह मूर्त्तियाँ बनाता था—कभी मानव की, कभी अति-मानव की, कभी नारी की, कभी

जननी की, कभी दानवों की, कभी देवदूतों की। उसके विशाल संग्रहालय में कतिपय सजीव प्रतिमाएँ विराजमान थीं। कोई कला-ग्राहक उसमें एक वार घुस पड़ा कि वस आत्म-विस्मृत हुआ ही—खोया-सा, भूला-सा, अपने जीवन से ऊपर उठा हुआ, विश्व के जीवन से मिला हुआ, पागल-सा—क्योंकि उस संग्रहा-लय में उसे दर्शन होते थे भगवान् बुद्ध के, जिन्होंने यौवन में ही वैराग्य की दीक्षा ली थी और हरे भरे उद्यान में निर्माण-वृक्ष का बीज लगाया था। वहाँ दर्शन होते थे हजरत ईसा के, जिनकी सूली पर टँगते समय की घोर अन्तर्वेदना उनके चेहरे पर इतनी सजीव, इतनी सत्यमय अंकित हो उठी थी, मानों उनकी आर्त्त वाणी ही कानों में गूँज उठी हो—'ऐ मेरे पिता! तूने मुझे क्यों विसार दिया?'

वहाँ और भी कई मूर्तियाँ थीं—हजरत मुहम्मद की, जिसे फारस के शाह की एक पुरानी तस्वीर के आधार पर उसने घड़ा था। कन्फ्यूशियस की, शेक्सपियर की मिल्टन की, अब्राहम लिंकन की, नैपोलियन की कार्ल मार्क्स की, लेनिन की, आई-न्स्टाइन की, राजनीतिज्ञों की, किसानों की लकड़हारों की, मज-दूरों की। उसमें मूर्तियाँ थीं नर्त्तकी की, विलासिनी की, अभि-सारिका की, परित्यक्ता की, वेदनामयी विधवा की, गौरवमयी माता की, पावन नारी की। लेकिन उसे स्वयं सन्तोष न था। उसकी बड़ी शोहरत थी। चारों दिशाओं में उसका खूब यश फैला हुआ था। बड़े-बड़े राजा-महाराजा, धनिक, देश-विदेश के टूरिस्ट

उसके यहाँ आते और एक एक मूर्ति के लिए हजारों रुपये देने के लिए तैयार रहते। कभी लहर आती, तो वह एकाध मूर्ति दे देता, वरना अक्सर कह देता—'अभी नहीं। अभी और काम बाकी है। मेरा दिल अभी भरा नहीं है।'

और वे अपूर्ण मूर्तियाँ बरसों वैसी ही पड़ी रहतीं और उनका काम वैसे ही बकाया पड़ा रहता। हाँ, अगर वह कोई मूर्ति दे देता, तो उसका खरीदने वाला एक दम हरा हो जाता, अपने भाग्य पर फूला न समाता। खुशी-खुशी वह नोटों का पुलिन्दा दे जाता, जिसे मूर्तिकार हाथ से न छूता। सामने की छोटी सी गोल मेज पर वे नोटों या रुपयों की ढेरियाँ वैसी ही पड़ी रहतीं। जब उसकी ईसाई नौकरानी नीना आती तब वह उन्हें बटोर कर ले जाती, अन्दर जाकर बाक्स में रख देती और चाबियाँ अपनी साड़ी के छोर में बाँध लेती। वह नौकरानी क्या थी, उस मूर्ति-कार की नर्स थी, अभिभाविका थी, खाना बनानेवाली तथा घर सँभालने वाली थी, बहन थी, माता थी। उसकी माँ बंगाली कायस्थ थी, किन्तु बाद में वह ईसाई हो गई थी।

यह नौकरानी बहुत ही भली औरत है। कुछ पढ़ी-लिखी भी है और देखने में भी साधारणतया अच्छी है। लेकिन इन सब से बढ़ कर जो बात है, वह यह है कि उसका हृदय अत्यन्त सुन्दर है। उस मूर्तिकार को जितना वह समझ सकी है, उतना और कोई नहीं समझ पाया है। जब से उसने अपना स्टूडियो खोला है, तब से वह बराबर उसकेसाथ है। और उसने पक्का इरादा

कर लिया है कि वह जिन्दगी भर उसका साथ देगी। कलाकार भी उसके कारण अत्यन्त सुखी है। नीना के रहते हुये उसे कोई तकलीफ नहीं—न खाने की, न पीने की, न कपड़े पहनने की, न ओढ़ने-सोने की, न सेहत की, न दवाई पीने की और न हिसाब-खर्च सँभालने की। समय पर वह उसे नाश्ता करा देती है। उसे क्या भाता है, उसकी तबीयत के लिये क्या मुफीद है, यह सब वह जानती है। वक्त पर कपड़े बदलवा देती है, मैले कपड़े धुलवा देती है, फटे कपड़े दुरुस्त कर देती है, ठंड के वक्त उसका ओवर कोट ला देती है, काम के वक्त चुपचाप कॉफी का ट्रे लाकर रख देती है, बीमारी में परिचर्या करती है और पाई-पाई का हिसाब रखती है—गोया उसके लिए सब कुछ है।

कलाकार उस पर अपना सारा भार छोड़कर एक दम निश्चिन्त है। उसका अन्तर्मन नीना के अस्तित्व को एक दम जान लेता है। वह कमरे में आई है या नहीं, यह वह फौरन समझ लेता है! वह उस पर एक दम अवलम्बित है, पूरी तरह आश्रित है। वह न रहे तो कलाकार भूखा ही बैठा रहे। बिस्तर पर पड़ा है, तो पड़ा ही रहे। कभी कपड़े नहीं बदलेगा, उठ कर कॉफी बनाकर नहीं पियेगा, कुछ नहीं करेगा। एक बार नीना एक दिन की छुट्टी पर रही तो उस कलाकार ने २४ घण्टे बिस्तर पर ही गुजार दिये। न खाना खाया, न पानी पिया और न अपना पलंग ही छोड़ा। अजीब हालत थी उसकी।

नीना उसे खूब समझे हुए है और वह नीना को। जब नीना

पास होती है, तो वह उसके बारे में कुछ नहीं सोचता है; किन्तु जब वह दूर होती है, तो उसी के बारे में सतत सोचता रहता है। फिर भी इस सतत सोचने के मानी क्या हैं, यह नीना नहीं जानती है। जो जानती है, उससे उसे सन्तोष नहीं है! इतना सब पा चुकने के बाद भी नीना को सम्पूर्ण सुख नहीं है। उसके दिल में कोई कशिश है, जीवन में कोई कमी है, जिसके कारण वह अपने आपको हमेशा अपूर्ण-अपूर्ण सा पाती है। वह जानती है कि यद्यपि वह इस नरश्रेष्ठ कलाकार की अभिभाविका है, बहन है, माँ है, किन्तु वह वह नहीं है, जो नारी का चरम सुख है, जो नारी के जीवन की फलश्रुति है। वह कलाकार की प्रेयसी नहीं है, प्रेम-पात्र नहीं है—हल्के और ओछे मानी में प्रेयसी सबसे गम्भीर, सब से गहरे और सब से पुनीत अर्थ में। किन्तु वह वह नही है, इसका उसे इल्म है और इसीलिये इतना सब पाकर भी उसके जीवन में एक सूक्ष्म उदासी छाई रहती है, जैसे उसने कुछ पाया ही नहीं। वह भली भाँति जानती है कि कलाकार किसी नारी के प्रेम का दीवाना नहीं है और शायद कभी होगा भी नहीं। वह दीवाना है, तो अपनी कला का, अपनी सृजनशक्ति के आत्म-प्रकटीकरण का। वह पागल है, तो अपनी कला का।

और नीना पागल है कलाकार के पीछे। नीना को कई ऐसे मीठे क्षण याद हैं, जब उस सुन्दर कलाकार की काली, बड़ी-बड़ी स्वप्निल आँखों ने उसकी आँखों की आत्मा की ओर अत्यन्त

आत्मीयता से निहारा है। उन दिव्य क्षणों में उसका सारा शरीर कम्पित हो उठा है। काश, वे क्षण अमर हो जायँ और उस दृष्टि निक्षेप का मन्तव्य ठीक वही हो, जिसके लिए उसके—नीना के—व्यक्तित्व का रोम-रोम लालायित है। किन्तु नीना को पूरा विश्वास है कि कलाकार की विलोभनीय आँखें उस नीना नाम की नारी-विशेष के हृदय की थाह नहीं ले रही हैं, बल्कि सम्पूर्ण, अ-विशेष नारी-जाति के चरम सत्य को, नारी में समाहित कला-तत्व को अवगाहन करने का प्रयत्न कर रही हैं, जिसमें नीना हजारों लाखों करोड़ों नारियों में से एक है, एक मात्र नहीं। फिर भी वह कृतज्ञ है कि वह जो पा रही है, वही क्या कम है? जो नहीं पा सकी है और जो शायद दुनिया की कोई भी नारी नहीं पा सकेगी, उसके दुःख में क्या वह जो पा चुकी है, उसके महत्त्व को, उसके सुख को घटने देगी?

इस तरह नीना और कलाकार जिन्दगी की राह पर साथ-ही-साथ चले जा रहे हैं—इतने करीब, फिर भी इतनी दूर! जहाँ नीना के दिल में यह महत्त्वाकाँक्षा है कि वह उस कलाकार को पा सके, वहाँ उस कलाकार के दिल में एक ऐसी दुर्दम्य महत्त्वाकांक्षा है कि वह मातृ-जाति के प्रतीक के रूप में नारी की एक ऐसी प्रतिमा बनाये, जो साक्षात् कला प्रतिमूर्ति हो। उसके जीवन की सबसे बड़ी साध, सबसे बड़ा स्वप्न, सब कुछ बस यही महत्त्वाकांक्षा थी। उस कल्पना की प्रतिमा की उसने न जाने कितने घण्टों, कितनी रातों, कितने बरसों तक एकाग्र पूजा की

है। न जाने कितनी जाग्रत और अजाग्रत घड़ियाँ उसकी एकान्त साधना में बिताई हैं। बस यह हो जाय, तो फिर कुछ होने को बाकी न रहे। उसका निर्माण होने के बाद फिर उसका मरण हो जाय, तब भी उसे चिंता नहीं। वह मूर्ति उसे मृत्यु को जीतकर भी अमर्त्य बना देगी, ऐसी उसकी निष्ठा है। इसी एक धुन में वह दीवाना बना फिरता है!

इसलिए जब उसकी इस आदर्श ध्येय-मूर्त्ति का निर्माण हो चुका और बरसों की तपस्या सफल हुई, जब कल्पना का एक-एक तत्व कला का सजीव सत्य बन उठा, तब इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि वह आनन्द-विभोर होकर पागल की तरह पुकार उठा—'ओ री लावण्य की प्रतिमा!'

× × ×

उसके बाल बिखरे हुए थे कपड़े बे-परवाह बदन पर लटके हुए थे। उसके फर-गाउन के बटन उल्टे-सीधे लगे हुए थे और बावजूद इसके कि बाहर कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी और कहीं-कहीं हिम-वर्षा भी हो रही थी, कलाकार का शरीर पसीने से तर था। दाहिने हाथ की उँगली उस प्रतिमा के सुन्दरतम चेहरे पर गड़ाकर वह देखता खड़ा रहा—बस, देखता ही रहा। आँखों में था परम सुख का भाव, परम सन्तोष, परम समाधान और परम सौंदर्य का प्रतिबिम्ब! 'ओ री लावण्य की प्रतिमा!' उसकी आनन्द-विह्वल पुकार सुनकर नीना दौड़ी-दौड़ी आई।

वह भी मन्त्र-मुग्ध सर्प की तरह देखती ही रह गई—उस प्रतिमा को और उससे भी ज्यादा उसके निर्माता को।

क्रमशः निशा-रानी आई। स्टूडियो बिजली की बत्तियों से जगमगा उठा। फिर भी कलाकार की आनन्द-समाधि में कोई परिवर्त्तन नहीं आया। वह प्रतिमा को देखता ही रहा। नीना ने पीछे से क़ाफी और मक्खन-टोस्ट का ट्रे लाकर रख दिया, खाने की रकाबी रखी, ओढ़ने के लिए पश्मीने का शाल लाकर रख दिया। लेकिन उसकी समाधि नहीं टूटी। रात आगे बढ़ती गई। नीना घर का सारा काम-काजकर तथा अन्दर के सारे दरवाज़े लगाकर चली गई। जाते-जाते उसने स्टूडियो में झाँका, तो पाया कि कलाकार के भावावेग में कोई फ़र्क नहीं। वह सुबह जल्दी आने का इरादाकर, एक दीर्घ निःश्वास छोड़कर चली गई।

और कलाकार अपनी स्वनिर्मित लावण्य-मूर्त्ति को बुभुक्षित आँखों से पी रहा है। ओफ़! लावण्य की मूर्त्ति! उसकी विशाल सुन्दर, भाव-भीनी आँखें, मोहक भाल-प्रदेश, कोमल-कपोल, नाज़ुक ओंठ, लुभावनी ग्रीवा, बड़े-बड़े स्तन और भरे हुए नितम्ब! वह नारी के चरम सौंदर्य की साक्षात् प्रतिमूर्त्ति थी। उसके स्वप्नों की सुन्दरी सजीव होकर ही इस पृथ्वी-लोक में उतर आई थी। क्या वह उसकी जाया थी या प्रेयसी या माता?

कुछ भी हो, किन्तु उस नग्न प्रतिमा के लावण्य में इतनी अपूर्व शुचिता थी, इतनी पावन थी, जैसे साक्षात् देवत्व ही साकार होकर उतर आया हो! कलाकार उसकी ओर पागल

बना निहारता ही रहा—मानो वह सजीव नारी है, जिससे वह मूक वार्तालाप कर रहा है, उसे जन्म-जन्म की संचित बातें बतला रहा है।

बाहर हिम-वर्षा हो रही थी। तापमापक-यन्त्र का पारा उतर कर शून्य की तरफ़ बढ़ा जा रहा था। इतने में एक सर्द हवा का झोंका आया। कलाकार ने अनुभव किया, जैसे उसे बर्फ़ आकर काट गई हो। उसका सारा शरीर कम्पित हो उठा। किन्तु इससे भी अधिक तीव्रता से उसने अनुभव किया कि उस अत्यन्त शीत, बर्फ़ीली हवा के झोंके से वह नग्न प्रतिमा भी सिहर उठी है, विकम्पित हो उठी है। उसका हृदय तीखी वेदना से द्रवित हो उठा। कोई पैनी वस्तु गहराई तक जाकर उसके नाजुक दिल को छू उठी—ओह!

दूसरे दिन बड़े तड़के नीना आई। फौरन भागी-भागी स्टूडियो की तरफ़ गई। देखा, सारी बत्तियां ज्यों की त्यों जल रही हैं और कलाकार जिस जगह खड़ा था, वहीं लुढ़क कर गठरी बना पड़ा है। उसका ओवर कोट उस नग्न प्रतिमा के बदन पर ओढ़ाया हुआ है और उस पर पश्मीने की चादर लपेटी गई है।

नीना ने घबराकर कलाकार के खुले बदन को टटोला। देखा कि वह भी बर्फ़ की तरह ठंडा है। दिल की धड़कन और नाड़ी बन्द हैं। नीना जहां की तहां पछाड़ खाकर गिर पड़ी। और जाने कैसे उसका सिर कलाकार के पैरों पर बे-अख्तियार जा गिरा।

: उन्नीस :

मधुरिमा

(श्रीमती कमला देवी चौधरी)

स्वच्छ चांदनी में बैठना, चकोर की भाँति चन्द्रमा का आ-वाहन करना, सम्पूर्ण रात्रि नीले आकाश की ओर देखते रहना, दिन-भर फूलों से भरे उद्यान में इधर से उधर विचरना, पुष्पों के सौन्दर्य को देख-देख कर हँसना और तितलियों से अठखे-लियाँ करना—मधुरिमा को यही भाता है। इसके सिवा और सारे कार्य उसे बन्धन-स्वरूप प्रतीत होते हैं।

वह प्रातः उषा काल से पहले उठकर उद्यान में चली जाती है, जहां उस समय समीर के हलके झोंके, पक्षियों के मधुर कलरव और कुसुमों के सौरभ के सिवा और कुछ जान ही नहीं पड़ता—चारों ओर हलकी जादू-भरी अँधियारी का राज्य हो रहा है। मधुरिमा एक ओर निमग्न बैठी रहती है। शीतल समीर उसके शरीर को स्पन्दित करता है, पक्षियों के कलरव की मीठी ध्वनि उसे आह्लादित करती है, पुष्पों की भीनी-भीनी सुगन्धि उसे रोमांचित करती है—मस्त बना देती है, उसका मन किसी अद्वितीय आनन्द से भर जाता है, और सूर्य की गुलाबी रश्मियों के स्पर्श से अन्य फूलों के साथ मधुरिमा भी खिल उठती है।

सुन्दर प्रभात के साथ किसी अनुपम आभा से उसका

सौन्दर्य चमक उठता है, रात्रि के साथ ही उसके हृदय की सारी नीरवता विदा हो जाती है, कोई अद्भुत नाद उसकी अन्तरात्मा में कल्लोल करने लगता है, उसके अंग-अंग में चंचलता नाच उठती है। वह फूलों के साथ खिल उठती है, चिड़ियों के साथ चहचहा उठती है, उसके हृदय से भी भ्रमर-लोक का संगीत फूट निकलता है, और वह अपने सुरीले गले से कुछ गुनगुनाने लगती है।

उस समय यदि उद्यान में जाकर कोई देखे, तो उसे मधुरिमा एक खूबसूरत तितली ही की भाँति प्रतीत होती है। उद्यान के प्रत्येक वृक्ष, प्रत्येक पुष्प, प्रत्येक पल्लव से वह परिचित है। संध्या के मिलने के बाद जब तक वह अपने सारे पुष्पों से, सारी कलियों से, एक-एक डाली से भेंट नहीं कर लेती, उसके हृदय का संतोष नहीं होता।

वह भूलती नहीं कि आज किस डाली पर कितनी कलियों का जन्म होने वाला है, कितनी शैशवावस्था में प्रविष्ट होंगी, कितनी खिलकर यौवन के उत्तुंग शिखर पर चढ़ेंगी और कितनी झड़कर मृत्यु की गोद में पहुँच जायँगी। मधुरिमा हर एक से मिलती है, प्रत्येक से सहानुभूति प्रकट करती है। किसी से मौन भाषा में कुछ कह आती है, किसी पर एक तिरछी दृष्टि डाल आती है, किसी को अपनी सुकुमार उँगलियों से स्पर्श कर आती है और किसी की ओर से अपनी गर्दन हिलाती हुई निकल जाती है; मानो कहती है—'अभी धैर्य रखो, अभी बहुत व्यस्त

हूँ, फिर आऊँगी।' किसी ओर से आते समय यह 'बहुत काम है' यह भूल ही जाती है, और ठहर कर दोनों हाथों से वल्लरियों को पकड़ कर—अंक में भरकर—बार-बार फूलों को प्यार करतीं है। किसी के सौन्दर्य पर इतनी मुग्ध हो जाती है कि घंटों निर्निमेष दृष्टि से खड़ी ताका करती है, और किसी के ऊपर कंकड़ी मार कर दूर ही खड़ी रहती है, मानो उससे चुहलबाजी कर रही है—उसका मन अपनी ओर आकर्षित करना चाहती है।

पृथिवी पर पड़े कुम्हलाये पुष्प को देखकर वह व्यग्र हो उठती है, तुरन्त ही उसे उठाकर छाती से लगा लेती है, आँखों से दो बूँद आँसू भी टपका देती है—उसकी ओर निराशापूर्ण दृष्टि से घंटों देखती रहती है।

मधुरिमा का यही काम है, यही उसका परिवार है, यही उसका खेल है और यही उसका सुख।

२

मधुरिमा अपने सम्पत्तिशाली माता-पिता की अकेली संतान है। संसार में आराम के जितने भी साधन हो सकते हैं, सब मौजूद हैं, पर मधुरिमा को उद्यान में विचरने के सिवा दूसरा कोई काम नहीं सुहाता। माता-पिता उसकी इस विलक्षण प्रकृति से हैरान हैं। माता का हृदय इस आशंका से काँप उठता है कि वह अँधियारे ही बाग में भाग जाती है—कहीं कोई कीड़ा-

मकोड़ा न काट ले वह लताओं के झुरमुट में घुस जाती है, यदि उसमें सांप......

मधुरिमा के लिए माता के वात्सल्य में वह जादू न था, जो उद्यान-निरीक्षण में था। बढ़िया-बढ़िया चमत्कारपूर्ण खिलौनों में वह आकर्षण न था, जो फूलों में था। उसे खेल भी वही पसन्द हैं, जो बाग़ में हों। सखियाँ भी वही पसन्द हैं, जो उस के साथ उद्यान का भ्रमण कर सकें। मधुरिमा सखियों के गले में बांह डालकर इधर-उधर फुदकने-सी लगती है। "देखो, यह कली आज खिली है, और वह फूल कल खिला था। वह गुलाब अभी कच्चा है, अभी और बड़ा होगा। अरे! चलो, चलो, देखो तो, वह काला भौंरा उस खूबसूरत कली का रस पी रहा है, उसे मार कर भगा दूँ।"

सखियाँ इस प्रकार घूमते-घूमते थक जाती हैं, पर मधुरिमा नहीं थकती। कोई सखी कहती—"बहन, मेरे तो यहाँ फिरते-फिरते पैर दुखने लगे, चलो, अब घर बैठकर गुड़िया खेलें।"

मधुरिमा कहती—"न, न, अभी मुझे बहुत काम है, अपने बहुत से फूलों को देखना है, उनकी खबरदारी करनी है। तू जानती नहीं बहन, वह सामने माला मन्दिर का पुजारी बड़ा खराब आदमी है। यहाँ से चली जाऊँगी, तो वह सारे फूल नोच-खसोट कर अपने ठाकुर पर चढ़ा देगा। और माली, वह फूलों का काम तो करता है, पर यदि मैं चली जाऊँ, तो अभी

ढेर से फूल तोड़ कर गुलदस्ता बना डाले! इसीलिए तो मुझे फ़ुरसत नहीं मिलती।"

मधुरिमा से जिसे बातें करनी हों, वह उद्यान में जाय, फिर तो वह बातों की झड़ी लगा देगी। माता-पिता को भी घण्टों उसके कारण उद्यान में घूमना पड़ता है। घर आकर मधुरिमा को भोजन करना और कपड़ा पहनना भी बन्धन-सा मालूम होता है।

माता कहती—"बेटी, मैं नौकरानी को बाग में भेजे देती हूँ। कोई फूल न तोड़ेगा। तेरे पिताजी ने सबको फूल तोड़ने की मनाही कर दी है। तू भर पेट रोटी तो खा ले।"

मगर मधुरिमा को सन्तोष नहीं होता। वह खाना खाती है, पर उसका ध्यान फुलवारी ही में लगा रहता है। किसी प्रकार माता से छूटते ही वह भाग खड़ी होती है। सदा से ही मधुरिमा का यही ढंग है। जब वह और भी छोटी थी, तब नौकरानियाँ गोद में लेकर फूलों से उसका परिचय कराते-कराते थक जाती थीं। माली को आज्ञा थी कि वह उसके साथ घूम-घूम कर सारे फूलों के नाम उसको बताता जाय। और मधुरिमा तोतली बोली में उन नामों को दोहराती जाती। नौकरानी थककर पेड़ की छाया में बैठ जाती—"बिटिया रानी, अब तनिक सो जाओ।"

मधुरिमा कहती—"अले हिलिया, तू मेले फूल को 'आ जा

ली निंदिया,—आ जा ली निंदिया' कल के छुला आ, मैं नहीं छोती।"

नौकरानी कहती—"अजीब लड़की है।"

-३-

पानी बरसे, या आँधी आये, चाहे जेठ-वैसाख की धूप शरीर को भून डाले, लू के थपेड़े यम के दूत बनकर आ जायँ, पर मधुरिमा से घर नहीं बैठा जाता। जबरन विठाई जाती है। मूसलाधार वर्षा में उसे बाग़ में कैसे घूमने दिया जाय? हहराती लू में उसका सुकुमार शरीर कुम्हाला न जायगा?

मधुरिमा अब ऐसी नादान बच्ची तो नहीं है, जो इतना भी न समझ सके; फिर भी नहीं समझ पाती। वह तो सोचती है—इन फूलों को तो लू नहीं लगती, फिर मुझे क्यों सतायेगी? ये पानी में भीगकर कितने प्रसन्न जान पड़ते हैं, यदि मैं भी इसी प्रकार पानी में भीग सकूँ, तो कैसा आनन्द आवे! और कभी-कभी सब की आँख बचाकर, कभी माँ से नहाने का बहाना करके, वह झंझावात झोंकों के साथ अठखेलियाँ करने चली जाती है। वह फूलों के सुख की थाह लेना चाहती है।

उस समय वह आनन्द से उन्मत्त-सी हो उठती है, उसकी आँखें हर्ष से चमकने लगती हैं, मन एक प्रकार के उत्साह से भर जाता है और गुलाबी गाल मारे जोश के सुर्ख़ हो उठते हैं। वह फूलों से छेड़-छाड़ करती हुई चारों ओर हँसती फिरती

है, मानो फूलों से कहती है—'आज मैं भी पानी में भीग रही हूँ, हाँ! आज कमरे की खिड़की से तुम्हें देखकर ललचा थोड़े रही हूँ। आज़ाद हूँ—तुम्हारी ही तरह पूरी आज़ाद हूँ।

मधुरिमा का यह ढंग अब घर वालों को सुखद प्रतीत नहीं होता। माता-पिता रात-दिन चिन्ता में रहते हैं—कैसे उसे राह पर लाया जाय? ऐसी लड़की तो उन्होंने आज तक न दूसरी देखी, न सुनी ही है। अब बड़ी हो रही है, उसे कुछ पढ़ना-लिखना चाहिए, कुछ सीखना चाहिए, इस तरह कब तक अल्हड़ बनी रहेगी?

किया भी क्या जाय, 'क, ख, ग, मधुरिमा को याद नहीं होता, पंडित जी की कर्कश आवाज़ और भद्दी शकल से उसे चिढ़ है। फूलों में निमग्न रहने वाली, भ्रमरों का राग सुनने वाली मधुरिमा हारमोनियम-वाले मास्टर का गाना पसन्द नहीं करती। सा, रे, ग, म, न उसे अच्छा लगे, न याद हो। वह मास्टर से कहती है—'मास्टर साहब, मेरे तालाब में आजकल खूब कमल खिलते हैं। काले-काले भौंरे उस पर बैठकर बड़ा सुरीला गाना गाते हैं। चलिये, आपको सुना लाऊँ। वैसा गाना क्या आप मुझे सिखा सकेंगे?"

मास्टर कहता है—'अच्छी ट्यूशन मिली!' करे भी क्या? बड़े घर की नौकरी है। लड़की के साथ भौंरे का राग सुनने जाना पड़ता है, और मधुरिमा की बातों का उल्टा-सीधा उत्तर देकर बेचारा मास्टर भाग खड़ा होता है।

मधुरिमा आकर कहती है—"पिताजी, मैं इन मास्टर साहब से गाना नहीं सीखूँगी। उन्हें कुछ आता भी है! उनसे अच्छा तो, कहो मैं गा दूँ।"

—"हाँ, हाँ, गाओ मधुरिमा, सुनूँ कैसा गाती हो।"

मधुरिमा—भ्रमरों का गुनगुनाना जो सीखा है—सुना देती है। यही नहीं, कई चिड़ियों की मधुर आवाज़ की वह बिलकुल नक़ल उतार लेती है।

पिता दुलार से उसके गालों को चूम लेता है; पर सोचता है, कहीं इसका दिमाग तो खराब नहीं है। माता कहती है—"बस, बहुत दुलार हो चुका, जिस तरह भी हो, इसकी पढ़ाई का उपाय करो। आज मैं इसे अपने सामने बिठा कर पढ़वाऊँगी।"

"हाँ, माताजी, तुम देख लेना, पण्डितजी को पढ़ाना नहीं आता।"

पंडितजी पढ़ाते हैं—"बेटी, कहो, ग से गदहा, घ से घोड़ा।"

मधुरिमा विचार-धारा में भटक जाती है—वही गदहा, जो अक्सर बाग में घुस आता है, कैसी खराब बोली बोलता है—सीपों! सीपों! फिर मधुरिमा के लिए हँसी रोकना कठिन हो जाता है, वह खिलखिलाकर हँस उठती है। हँसते-हँसते लोट जाती है, और यह कहकर आँधी की तरह भाग खड़ी होती है—"पंडितजी, मैं उस गदहे वाली बात नहीं पढ़ूँगी। जाती हूँ अपने गेंदे के पास।"

पंडितजी क्रुद्ध होकर कहते हैं—"देख लिया आपने ? आपकी लड़की को पढ़ाना असम्भव है। विलक्षण बिटिया है !"

पंडितजी सर खुजलाते चले जाते हैं। माँ माथे पर हाथ रखकर सोचती है—"क्या करूँ ?"

—४—

फूल चाँदनी चुरा रहे थे। मधुरिमा सबकी तलाशी ले रही थी,—कौन फूल अब तक जाग रहा है। मलयानिल को उसी समय हँसी सूझी, वह कोमल कलियों को छेड़ने लगा। सुकुमारता के कारण कहीं किसी की कमर न टूट जाय, इसी चिन्ता में मधुरिमा कलियों पर दृष्टि गड़ाकर खड़ी हो गई। उसी समय उसके कान में अत्यन्त सुरीला राग सुनाई दिया। सब-कुछ भूलकर वह उस राग में तन्मय हो गई।

कौन है यह ? कैसा मनमोहक स्वर है उसकी बाँसुरी का ! इस स्वर में बाँसुरी तो पहले किसी ने न बजाई थी। इसमें तो कोयलों की कूक; चिड़ियों को मधुर कलरव, भ्रमरों का राग—सब-कुछ भरा है। मधुरिमा उन्मत्त-सी हो उठी। बाँसुरी रुकते ही कुमार के पास पहुँच गई; बोली—"तुम बाँसुरी बजाते हो ?"

—"हाँ"

—"मुझे बताओगे, तुम क्या गाते हो ?"

—"फूल-फूल मैंने हरि को देखा, और देखी मैंने फुलवारी।"

मधुरिमा सोचने लगी,—यह भी शायद फूलों को प्यार करता

है, तभी तो फूलों का गाना गाता है। वह बोली—"क्या तुम मुझे गाना सिखा सकते हो ?"

—"क्यों नहीं, जरूर सिखा सकता हूँ। मेरा गाना क्या तुम्हें पसन्द है ?"

—"बहुत पसन्द है। चलो, मैं तुम्हें पिताजी के पास ले चलूँ। मैं तुमसे गाना सीखूंगी।"

कैसी भोली बालिका है; कितनी सुन्दर, कैसी प्यारी और कैसी सुकुमार ! आँखों में कितना आकर्षण है ! कुमार उसकी बात टाल न सका, बोला—"अच्छा चलो।"

कुमार का हाथ पकड़े मधुरिमा पिता के पास पहुँची—"पिताजी, मैं इनसे गाना सीखूँगी। उन मास्टर साहब को मना कर दो, अब न आवें।"

पिता ने आँखें ऊपर उठाईं—यह तो उनका पड़ोसी नलिनी कुमार है। धनाढ्य का लड़का है। वह मधुरिमा को गाना कैसे सिखायेगा ? वे बोले—"पगली, कुमार को इतनी फ़ुरसत कहाँ है ? पढ़ने-लिखने वाला लड़का है।"

—"नहीं, मैं इसे अवश्य गाना सिखाया करूँगा। मुझे काम हो गया है ? मेरी कालेज की पढ़ाई इस वर्ष से समाप्त हो गई। पिताजी तो अब आपके पड़ौस ही में आ गये हैं न।"

—"बेटा, यह पढ़ेगी क्या, इसे तो दिन-भर बाग ही से फ़ुरसत नहीं होती।"

—"जो भी हो, मैं इसे पढ़ा दूँगा।"

मधुरिमा अधिक खड़ी न रह सकी, कुमार का हाथ पकड़ा और भाग खड़ी हुई। कुमार भी उसके साथ घसिटता चला गया।

—५—

जो मधुरिमा ग से गदहा न पढ़ पाती थी, वह अब गेंदे का ग, चम्पा का च बहुत पीछे छोड़ आई है। वह सुन्दर-सुन्दर कविताएँ लिखकर कुमार को दिखाती है। कुमार चकित हो जाता है—अल्हड़ मधुरिमा ऐसी भावपूर्ण कविता कैसे लिखती है?

और उस अल्हड़पन पर ही कुमार मुग्ध है। उसकी मास्टरी तो अब खत्म हो चुकी। मधुरिमा चाँदनी में बैठकर चन्द्रमा को एकटक देखती और कुमार मधुरिमा को। वह मुग्ध-दृष्टि से फूलों को ताका करती और कुमार उसको; पर मधुरिमा को कुछ खबर ही न होती। जब उसकी यह समाधि टूटती, तो वह आँखों में जाने क्या भरकर उन्मत्त-सी चिल्ला उठती—"कुमार, देखो, यह फूल कितना सुन्दर है!"

कुमार की दृढ़ता का बन्धन ढीला हो जाता, वह उसके दोनों हाथ मुट्ठी में दाबकर उसे कितनी देर तक बिना पलक मारे देखा करता पर फिर भी मधुरिमा फूलों के ध्यान ही में लीन रहती। धीरे-धीरे वह मुट्ठी के बन्धन ढीले कर देता।

कितने ही दिन इसी तरह गुजरते चले गये।

मधुरिमा अब यौवन में पदार्पण कर चुकी है, पर उसे कुछ खबर ही नहीं। कुमार के हाथ पकड़ने और छोड़ने का अर्थ यह कुछ नहीं समझती। मधुरिमा की यह प्रकृति अब कुमार को भी अच्छी नहीं लगती। वह चाहता है—अब फूलों के सिवा कुछ और बात भी करे, और फूलों की बात छोड़कर मेरी ही बात सोचा करे, मेरे ही ध्यान में मग्न रहे। पर वह देखता है कि उसकी बातें भी अब वह वैसे ध्यान से नहीं सुनती, क्योंकि अब वह बातें फूलों की कहानी नहीं हैं, उसकी कविताएँ अब फूलों की डाली नहीं हैं। और प्रेम की बातें, जिन्हें मधुरिमा को समझना चाहिए, सुनकर वह कहकहा मारकर हँस देती है। बेचारा कुमार लज्जित होकर आँखें नीची कर लेता है।

एक दिन रिमझिम-रिमझिम पानी बरस रहा था। रात-भर घनघोर वर्षा हुई थी। सारा घर अभी मीठी नींद में मग्न था। अकेली मधुरिमा जागकर उद्यान में पहुँच गई थी। डाली पर दृष्टि पड़ते ही उसका मन नाच उठा। इतना सुन्दर फूल तो आज तक उसने देखा ही नहीं, कैसा खूबसूरत है! देखते ही देखते समीर के एक झोंके ने उसे टहनी से अलग कर दिया। मधुरिमा ने दौड़कर उठा लिया, और प्यार से उसे सहलाते हुए उसने सोचा—'इसे कुमार को उपहार दूँगी।' हलके झोंके के साथ यह विचार मन में आया, और आँधी की भाँति मधुरिमा कुमार के घर भागी।

उसका स्वभाव ही विचित्र है।

कुमार शय्या पर पड़ा मधुरिमा ही की बात सोच रहा था, उसी समय दौड़ती हुई मधुरिमा पहुंची और हाँफती हुई बोली—"कुमार, ऐसा सुन्दर फूल आज तक नहीं खिला था। लो, तुम्हें उपहार देती हूँ।

कुमार ने दोनों हाथ पकड़कर उसे अपनी ओर खींच लिया—"मेरे इस फूल से यह सुन्दर नहीं है।"

मधुरिमा का मुँह फीका पड़ गया—सारा उत्साह समाप्त हो गया, और वह कुमार के बन्धन से छूटने की चेष्टा करने लगी। दीनता दिखाते हुए बोली—"यह तुमको हो क्या गया! है?"

—"कुछ तो नहीं, तुम अपने फूल को प्यार करती हो, और मैं............"

—"पर मुझे यह अच्छा नहीं लगता।"

—"क्यों? क्या मैं तुम्हें अच्छा नहीं लगता?"

—"तुम तो बहुत अच्छे लगते हो।"

—"फिर दूर-दूर क्यों भागती हो, मेरी बातें क्यों नहीं सुनती?"

मधुरिमा क्या उत्तर दे? बेबस होकर कुमार के बन्धन में मुँह छुपाये खड़ी रही। वह किसी तरह भी यह नहीं समझ सकती कि कुमार अपने अच्छे न लगने का प्रश्न क्यों उठाता

है। कुमार तो उसे सदा से ही बहुत प्यारा है, क्या वह जानता नहीं? फिर अब ऐसी बातें क्यों करता है? मधुरिमा कुछ अनुभव तो करती है कि कुमार उससे यही चाहता है; वही नहीं, माता-पिता सभी चाहते हैं कि कुमार से उसका ब्याह हो। विवाह भले ही हो ले, पर इस प्रकार का बन्धन मधुरिमा को असह्य है, उसका जी फड़फड़ाने लगता है। अन्दर ही अन्दर किसी आशंका से वह काँप उठती है।

—६—

मधुरिमा का कुमार के साथ ब्याह हो गया और ब्याह के साथ ही बड़ा भारी परिवर्तन भी।

अब मधुरिमा हर समय चहचहाने वाली चिड़िया—मस्त होकर फुदकने वाली तितली नहीं रही। अब वह गम्भीर हो गई है। कुमार उसका दिल अपने काबू में करके उसे अपनी चकोरी बनाना चाहता है, और फूल उसका दिल चुराकर उसे चमन की बुलबुल बनाया चाहते हैं। मधुरिमा दुविधा में पड़ गई है। वह न कुमार को प्रसन्न कर पाती है, न अब स्वयं प्रसन्न हो पाती है। वह अब नवयौवना युवती है, बच्ची नहीं। सभी उससे कुछ आशा रखते हैं। उसका यह दिन-रात पागल की भाँति फूलों के पीछे पड़ा रहना किसी को नहीं भाता। कहाँ तक कोई उसे नादान बच्ची समझे।

परन्तु मधुरिमा कुछ और ही सोचती है—उसका जो एक इतिहास का इतिहास छिपा पड़ा है, उसे कैसे जाना जाय? नित्य-

प्रति उसके कान में कोई कह जाता है—'बहुत कुछ छिपा है, बहुत-कुछ जानना है।' पुष्प ही नहीं, कोई पुष्पलोक भी है; और पुष्पलोक ही नहीं, न मालूम क्या-क्या है। है जरूर ! मधुरिमा वह सब कुछ जानना चाहती है। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि कोई संसार ही और छिपा पड़ा है। इन पुष्पों में कोई बड़ा रहस्य है, जिसे जानने को उसका मन घुट रहा है, उसका हृदय तड़प रहा है।

वह बात शायद कुमार भी नहीं जानता, तभी तो वह अब इस ओर से चुप है। उसके प्रश्नों का उत्तर अब कुमार के पास नहीं है, इसलिए मधुरिमा अब कुमार से प्रश्नों की झड़ी नहीं लगाती। अपनी कल्पनाशक्ति द्वारा वह बहुत-कुछ जानने की चेष्टा करती है, इसीलिए तो अब वह बहुधा मौन रहती है, घंटों निःशब्द फूलों की ओर ताककर न-जाने क्या सोचा करती है।

वह क्या सोचती है, किसकी चिन्ता करती है, स्वयं भी नहीं जानती—कुछ भी नहीं समझ सकती। कोई रहस्य है—गूढ़ रहस्य है, उसका मर्म मधुरिमा नहीं जानती। परन्तु उस गुत्थी को सुलझाने के लिए उसका मन छटपटाता है, उसका हृदय उत्कट व्याकुलता का अनुभव करता है। वह उन्माद-भरी दृष्टि से सूने आकाश की ओर देखा करती है। उसके हृदय में कोई वेदना उमड़ी पड़ती है, और उसी का करुण क्रन्दन कभी आँसुओं के झरने के रूप में फूट पड़ता है, कभी कविता

की धारा में वह निकलता है। वह क्यों तरस रही है? यह उद्भ्रान्त लालसा किस लिए? वह नहीं जान पाती।

वह दिन-पर-दिन मारे चिन्ता के पीली पड़ती जाती है। डाक्टर लोग कहते हैं, उसे बुखार रहता है। उसे प्रसन्न रहना चाहिए, वरना रोग असाध्य हो जायगा। अब कोई उसकी स्वच्छन्दता में बाधा डालने की चेष्टा नहीं करता। कुमार सुन्दर-सुन्दर कविताएँ सुनाता है। पिता नये-नये फूलों के पौदे मँगवाकर लगवाते हैं; परन्तु मधुरिमा की चिन्ता नहीं छूटती कुछ अन्तर नहीं आता। वह दिन-पर-दिन घुलती ही जाती है।

कुमार हर समय उसे उद्यान में ही लिये बैठा रहता है, उसे प्रसन्न करने को कुछ उठा नहीं रखता; पर फिर भी वे पहले के दिन लौटते नहीं। साथ ही उसे रोग से कुछ कष्ट भी नहीं है। वह कहती है—"तुम मुफ्त में चिन्ता क्यों करते हो? मुझे क्या हुआ है? डाक्टर व्यर्थ ही मुझे बीमार बताते हैं! मैं अच्छी हूँ।"

डाक्टर पूछता है"—बुखार से तबीयत घबराती है?"

मधुरिमा कहती है—"नहीं।"

—"सर में दर्द रहता है?"

—"नहीं।"

—"कमजोरी मालूम होती है?"

—"नहीं।"

—"कुछ और तकलीफ़ है ?"

—"कुछ नहीं।"

कुछ कष्ट न होने पर भी वह हँसती नहीं है। कुमार बड़ी आशा से कविता पढ़ने बैठता है कि इस बार तो मधुरिमा अवश्य हँस देगी; किन्तु पूरी कविता समाप्त हो जाती है, मधुरिमा मौन रहती है। कुमार आँखें उठाकर देखता है। अरे, क्या व्यर्थ ही पढ़ रहा है! मधुरिमा तो किसी और ही ध्यान में डूबी है।

सब लोग हैरान हैं, क्या उपाय किया जाय ? उसे हो क्या गया है ? आख़िर यह रोग क्या है ?

—७—

डाक्टर कहते हैं, उसकी हालत अब बहुत ही नाज़ुक है; मगर इधर कुछ दिनों से मधुरिमा में फिर परिवर्तन हो रहा है। अब वह कुछ प्रसन्न रहती है। डाक्टर भले ही न कहें, घर वाले तो समझते हैं—वह अच्छी हो रही है। देखो, उसके मुँह पर पहली-सी आभा फिर आ रही है। आँखें जो गड्ढे में घुस गई थीं, उनमें अब ज्योति मालूम होती है। गालों पर कुछ सुर्ख़ी आ रही है। अब वह घण्टों कुमार से हँस-हँस कर बातें करती है।

मधुरिमा वास्तव में अब प्रसन्न है। उसे ऐसा मालूम होता है। कि वह अब सब-कुछ जानने ही वाली है; वह समय समीप है,

जब उसके कान में कोई कुछ फूँक देगा। वह जान जायगी—मैं काहे को तरसती हूँ,—यह उद्भ्रान्त लालसा, यह उत्कट वेदना किस लिए है।

जैसे-जैसे समय बीतता जाता है, उसका हृदय आनन्द के आवेग से उछला पड़ता है, उत्साह से भरा जाता है।

—८—

एक दिन, पूर्णिमा की रात्रि थी, मधुरिमा ने कहा—"मेरा पलंग चाँदनी में फूलों के पास बिछा दो, और कुमार, तुम एक अच्छी-सी कविता सुना दो। आज मैं बहुत अच्छी हूँ, शरीर में बड़ी स्फूर्ति है। आँखें मीचकर लेटने को जी चाहता है।"

सब लोग शान्त हो गये; कुमार धीरे-धीरे कविता पढ़ने लगा; माता पंखा झलने लगी। मधुरिमा को नींद आ रही है। वह नींद में कुछ बुदबुदाने लगी—"वह देखो, फूलों के गुच्छे मेरी ओर उड़े आ रहे हैं। पवन उन्हें उड़ाये ला रहा है। वह चले ही आ रहे हैं।"

सब लोग स्तब्ध हो गये। मधुरिमा सो रही है, स्वप्न देख रही है।

"कैसा सुखद समीर है···मनमोहक सुरभि है···मनोहर संगीत है···मैं भी उड़ रही हूँ! फूलों के साथ चली जा रही हूँ—चली ही जा रही हूँ।"

मधुरिमा शान्त हो गई। उसका बुदबुदाना बन्द हो गया। अब उसका मस्तिष्क शान्त है। वह मीठी नींद सो रही है।

उसी समय डाक्टर ने आकर नाड़ी देखी—"सेठजी, कितनी देर से..."

—क्या ? क्या हुआ ? मेरी मधुरिमा सो रही है न ?"

कुमार के हाथ से कविता छूट पड़ी—"हाय ! मेरा फूल किधर उड़ गया !"

माँ कहती है—मेरी बच्ची को क्या हुआ !"

पिता कहता है—"मेरी मधुरिमा तो अच्छी हो रही थी !"

: बीस :

एक प्रतीकात्मक कहानी

इला

(श्री विनयमोहन शर्मा)

बीहड़ वन; दिन में ही रात के चिराग़ जलें, इतना अँधेरा; अलकों में कहीं-कहीं दीख पड़ने वाले इक्के-दुक्के सफेद बालों के समान झलक-भरी पगडंडियाँ; बीच में पथरीली जमीन, उस पर एक मन्दिर; वह आसमान से तो नहीं, अतीत से ही बातें करता जान पड़ता था। उसकी छिन्न-भिन्न ध्वजा उसकी उसासों का प्रतीक प्रतीत होती थी। उसमें एक 'मूर्ति' थी, जो दाएँ से देखने पर सोने की तरह और बाएँ से लोहे की समझ पड़ती थी। ऊपर से शुष्क, परन्तु अवशिष्ट, विवरों के भीतर से झाँकने पर तरलता लहराती-सी थी। इस आश्चर्यमयी मूर्त्ति की ख्याति कभी-कभी व्यक्तियों को उसके पास खींच लाती थी।

इलावती आज अपने ही श्वासों पर अविश्वास कर अनमनी हो रही है। जी रह-रह कर भर आता है। ज्ञात-अज्ञात अभाव उसे अभिभूत किए हुए हैं। उसे केवल रोना आता है। वह हँसकर भी आँखों से आँसू ही बहाती है। एक दिन सन्ध्या-

समय यात्रियों की एक टोली उसकी झोंपड़ी के पास रैन-बसेरा लेने को रुकी। रात को उसने सुना:—

एक—'वह मूर्ति सचमुच बड़ी विचित्र है ! हमें उसका गर्व है।'

दूसरा—'उसकी भाव-भंगी दर्शनीय है।"

तीसरा—बोलती नहीं, पर-न-जाने क्यों, हम उसे देखकर ही ऐसे मुग्ध हो जाते हैं कि उसे अपने से बातें करते हुए अनुभव करने लगते हैं।'

चौथा—'आँखों में कितनी सरलता है, कितना अपनाव है।'

'क्या कहा ? अपनाव है !'—इला मन-ही-मन गुनगुना उठी।

\+ \+ \+

सूरज की किरणों में इला ने अपना दिन देखा। वह चौंकी, मुस्कराई और उठ खड़ी हुई। अँधियारे वन की पगडंडियों पर उस समय दिखलाई दी, जब सूरजमुखी मुरझा रही थी। पर इला खिली जा रही थी। सोचती थी—आज मेरे उनींदे भाग जाग उठे, उनके दर्शन करूँगी; नवीन स्वप्नों की सृष्टि करूँगी।

वह चली जा रही थी। अबाधित द्वार से मन्दिर में प्रविष्ट हुई। उसने मूर्ति को दाएँ से देखा और वह पुलक से भर गई। उसने आँखें मूँद लीं—'मेरे देव, मैं तेरे आँगन में रहकर भी क्यों न आज तक देहरी तक पहुँच पाई ?—किसने मेरे पगों में

लाज भरकर मेरे यौवन का उपहास किया ? मानोगे ? तुम स्वर्ग हो, साध हो; साधना हो। बोलो,—मेरे हृदय की ग्रन्थि खोलोगे—ठीक उसी तरह, जब गो-धूलि-वेला में आम्र-पत्तियों से आच्छादित लता-मंडप के नीचे नतवदनी की कलाई का कंकण छोड़ने के लिए किसी के विकम्पित कर बढ़ते हैं ? अरे, मैं क्यों दूरी अनुभव कर रही हूँ ? अच्छा मेरा यह समर्पण अतीत जीवन की विडम्बना है—आतुरता की उसासों में प्राण की ठेस नहीं, अभ्यास की क्रीड़ा है ?...नहीं-नहीं। ऐसा न कहो। मैं मर जाऊँगी। मेरा केन्द्र मेरी आँखों की परिधि से दूर न बनाओ। मैं भटकना नहीं चाहती। मुझे बुला लो, बाँध लो। मैं खुशी-खुशी क़ैद होने आई हूँ। आश्वासन पर तुलने के लिए किन बाँटों को बटोरूँ ? बोलो, एक बार ही सही। यह नीरवता अखर रही है; छिद रही है। किससे पूछूँ ?'

मूर्त्ति ज़रा हिली। इला भी हिली। वह मूर्त्ति को बहुत बारीकी से देखने लगी। उसकी नजर जब बाएँ बाजू पर पड़ी, तो वह चौंक उठी। वह चीख पड़ी—'नेत्रो क्या देखते हो ? हृदय, क्यों सिहरते हो ? अरे, यह तो वह नहीं है, जिसके लिए तुम आँखों से बह जाने के लिए रह-रह काँप उठते थे। भ्रम है, छल है, पाखंड है। क्यों मैंने अपना सब-कुछ इसके आगे उंडेलना चाहा ? मेरी गगनचुम्बी अट्टालिका किस भूकम्प से आहत हो जमीन चूमने लगी ? मेरे विवेक, तुम कहाँ सो

गए ? इस मूर्त्ति के सामने तो मैं क्षण भर भी नहीं ठहर सकती ! साँस रूँधती है।

मूर्ति ने अट्टहास किया; पर इला के कान बहुत दूर थे।

+ + +

सवेरा हुआ था। पक्षी आँखें खोलकर उड़ना चाहते थे। एक नया मूर्त्ति-दर्शनार्थी पथिक मन्दिर के निकट दिखाई दिया। उसके साथ एक किशोरी भी थी। साथी कह रहे थे—'तू यहीं रह, मन्दिर में जाकर क्या करेगी ? मूर्ति को देखने की रस्म पूरी कर हम अभी लौटते हैं।'

'मुझे रस्म नहीं पूरी करना है, मुझे उसे देखना है।'

'उसे लोग केवल देखने के लिए नहीं जाते। वे तो किसी कामना को आँखों में बाँधकर पहुँचते हैं। यदि कामना की पूर्ति मूर्त्ति से होती है, तो कभी-कभी वे उलटकर उसके दर्शन फिर कर जाते हैं, अन्यथा उस पर गालियाँ बरसा कर—उसे कोस कर—चले जाते हैं।'

'मैं तो उसे एक बार देखना चाहती हूँ, भाई ! मुझे उसका आशीर्वाद नहीं चाहिए।'

किशोरी मूर्त्ति को बाईं ओर से देख रही है—'अरे, कितनी अच्छी लगती है यह तो !'

'पगली कहीं की। ज़रा इधर से आकर तो देख।' दाईं ओर खड़े बूढ़े ने कहा।

दौड़कर वह उस ओर जाती है। कहती है—'यहाँ से भी अच्छी लगती है।' और फिर दौड़कर बाईं ओर चली जाती है। 'मुझे तो यह सब तरफ से अच्छी लगती है।' उसने आँखें बन्द कर लीं, दोनों हाथ जोड़ लिए; भाल से लगा लिए और न-जाने मन-ही-मन क्या गुनगुनाने लगी।

दर्शक सहसा देखते हैं—मूर्त्ति धुएँ से आच्छादित हो गई है, क्रमशः एक ज्योतिर्मय आकृति उसकी ओर बढ़ती जा रही है। यह क्या? मूर्त्ति सप्राण बन गई है! उसमें यौवन सँवर आया है! दोनों एक-दूसरे को देखते हैं, दोनों आँखों से बोलते हैं। धीरे-धीरे दो के स्थान पर एक ही आकृति दीख पड़ती है। कुहासा दूर हो जाता है। पूर्व स्थिति आ जाती है।

अब जब दाईं ओर से कोई उस मूर्त्ति को देखता है, तो पुरुष विहँस उठता है, और बाईं ओर से देखने पर नतदृष्टि प्रकृति—नारी—मुस्कराती हुई सहम उठती है।

+ + +

कई दिनों बाद इला मन्दिर की सीढ़ी पर बैठी है। संध्या की अंजन-रेखा उसकी आँखों में नहीं खिचती, उषा की व्रीड़ा उसके कपोलों का अनुसरण नहीं करती। वह चकराई-सी, पथराई-सी बैठी है। रोना चाहती है, रो नहीं सकती, कहना चाहती है, कह नहीं सकती। एकाएक न-जाने कहाँ से बल संचित कर वह बड़बड़ा उठी—'तू राक्षस है, पापी है, अन्यायी है'''नहीं-नहीं, तू यह सब-कुछ नहीं है! मैंने ही तेरा तिरस्कार किया था''

पर तू क्यों आँखों में आकर चट ही उचट गया? मेरे प्रमाद को तेरे सिवा और कौन बता सकता है? मेरी स्वाधीनता मुझे काटने लगी थी। मैं बेदामों ही किसी के हाथों बिक जाना चाहती थी। कितनी आशाएँ, कितने स्वर्ग, लेकर मैं तुझ तक आई!···तूने मुझे अपना असुन्दर रूप क्यों दिखाया?'

'गर्वमयी! अपने हृदय को टटोल। क्या तू सचमुच मेरे लिए आई थी? यदि हाँ, तो हर बाजू से तुझे तेरी चीज क्यों न दीख पड़ी? बुद्धि की आँखों से हृदय नहीं देखा जाता। मुझमें पूर्णता देखना चाहती थी अपनी अधखुली अधूरी आँखों से? पूर्णता किसी वस्तु में नहीं, द्रष्टा की आँखों में होती है। यह जो मेरा अंग बन गई है, मेरे लिए—केवल मेरे लिए—आई थी। इसीलिए मैं हर दिशा से उसकी चीज दीख पड़ी।'

इला ने यह सुना और उसकी आँखें आसमान पर जम गईं।

(विशाल भारत)

परिशिष्ट

हमारे कहानी लेखक

श्री चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' :—

आपका जन्म सन् १८८३ में हुआ था और मृत्यु १६११ में हुई। अट्ठाइस वर्ष की अल्पायु में ही आपने संस्कृत, प्राकृत, अंगरेजी में ही अधिकार प्राप्त नहीं कर लिया था प्रत्युत भाषा शास्त्र में आपकी अच्छी गति थी। आपने केवल तीन ही कहानियाँ लिखी हैं, वे हैं—सुखमय जीवन, बुद्धू का काँटा और उसने कहा था। 'उसने कहा था' हिन्दी साहित्य की अमर कहानी है। इसकी भाषा, कथानक, शैली सभी बेजोड़ हैं। इसकी अभिव्यक्ति इस ढंग की है कि संवादों और कार्यों में ही लेखक अपने उद्देश्य को व्यक्त कर देता है। इसमें प्रेम का बहुत ऊँचा आदर्श चित्रित किया गया है। वातावरण और पात्रों के अनुरूप भाषा की स्वाभाविकता अपूर्व है।

पं० ज्वालादत्त शर्मा :—

आपका जन्म १८८८ में मुरादाबाद जिले में हुआ था। आप संस्कृत, उर्दू; फ़ारसी और बंगला साहित्य के अच्छे ज्ञाता हैं। पुरातन हिन्दू-संस्कृति से घिरे हुए समाज की समस्याओं का

वर्णन उनकी कहानी की विशेषता है। पारिवारिक जीवन में जो प्रश्न उठा करते हैं उन सबका मार्मिक चित्र आप खींचते हैं। अस्तंगत प्रतिभा नामक पत्रिका में आपकी कई सुन्दर कहानियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। 'विवाह' कहानी गार्हस्थ्य जीवन की एक समस्या हमारे सामने रखती है। भाषा के समान ही कहानी का भावविन्यास सुलझा हुआ है।

पं० विश्वम्भरनाथ शर्मा:—

आपका जन्म अम्बाला छावनी में सन् १८६१ में हुआ था। तीन चार वर्ष पूर्व ही आपका स्वर्गवास हुआ है। आपने फारसी उर्दू के अतिरिक्त हिन्दी और संस्कृत का भी अच्छा अभ्यास कर लिया था। सन् १६११ से आपने हिन्दी में कहानी लिखना प्रारम्भ किया। अभी तक आपके पाँच कहानी संग्रह और दो उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं, चाँद में आप ही विजयानन्द दुबे के नाम से हास्यरस की चिट्ठियाँ लिखा करते थे। आपकी कहानियों में गार्हस्थ्य जीवन की मनोरम झाँकी मिलती है। कथोपकथन के द्वारा पात्रों का चित्रण करने में आप प्रवीण हैं। इक्केवाला कहानी आत्मचरित्रात्मक शैली में लिखी गई है। भाषा सरल और मुहावरेदार है।

श्रीयुत सुदर्शन:—

आपका जन्म सन् १८८६ में स्यालकोट में हुआ था। आप पहले उर्दू में लिखा करते थे। आप सन १६२० से हिन्दी

साहित्य की सेवा कर रहे हैं। अभी तक आपने अंजना, सिकंदर आनररी मेजिस्ट्रेट इत्यादि नाटक और सुप्रभात, तीर्थयात्रा, सुदर्शन सुधा, पनघट, पुष्पलता आदि कहानी-संग्रह प्रकाशित किये हैं बच्चों के लिये भी कई कहानियाँ तथा जीवन चरित्र लिखे हैं। इस समय बम्बई में सिनेमा-जगत् में कार्य कर रहे हैं। सुदर्शन की भाषा-कथानक और संवाद आकर्षक होते हैं। अधिकांश में आपकी कहानी सामाजिक होती हैं। 'हार की जीत, में बाबा भारतीय के चरित्र में अपराधियों को सुधारने का जो उदात्त भाव अंकित किया गया है वह अपूर्व है। क्षमा से बढ़ कर सुधारक दण्ड शायद दूसरा नहीं है। पापी आदमी के भी हृदय होता है और जब कोई उसे कोमल भावना द्वारा छू देता है तो वह पानी-पानी हो जाता है। 'हार की जीत' में इसी को चतुराई के साथ उद्घाटित किया गया है।

श्री० प्रेमचन्दः——

श्री प्रेमचन्द का असली नाम धनपतराय था। आपका जन्म सन् १८८० में और देहान्त १९३६ में हुआ। आपने बचपन से ही जीवन के साथ संघर्ष लिया। अठारह रुपये की अध्यापकी से प्रारम्भ कर स्कूल के डिप्टी इंस्पेक्टर के पद पर पहुँचे। असहयोग-आन्दोलन के समय नौकरी से त्यागपत्र दे दिया। १९०७ में आपकी पहली कहानी उर्दू रिसाला 'जमाना' में छपी। सन् १९१६ से आपने हिन्दी के क्षेत्र में पदार्पण किया

और उसे अनेक उपन्यासों तथा कहानियों से अलंकृत किया। आपके उपन्यासों में कर्मभूमि, रंगभूमि, प्रेमाश्रम, गबन और गोदान अधिक प्रसिद्ध हैं। कहानियाँ मानसरोवर के पाँच भागों में संकलित हैं। कहा जाता है कि आपने लगभग तीन सौ कहानियां लिखी हैं। आपकी कहानियों में शोषितों के प्रति सहानुभूति और गांधीवाद की छाप है। आप 'पो' के समान पहिले उद्देश्य को निश्चिय कर लेते हैं फिर घटनाओं तथा पात्रों को उस 'उद्देश्य' के केन्द्र के चारों ओर आवृत्त कर देते हैं। इसी से कभी-कभी घटनाओं तथा पात्रों के 'आचार' में थोड़ा विरोध-सा दीखने लगता है। परन्तु भाषा बड़ी चुटीली, मुहावरेदार और जीवन-अनुभवों की सूक्तियों से जड़ी होती है। आदर्शवादी होने के कारण कहीं-कहीं कहानी में उपदेशात्मकता भी आ जाती है। आपकी कुछ कहानियाँ युग से अनुप्राणित होकर भी युगान्तर उपस्थित करने वाली हैं।

श्री जैनेन्द्र कुमार :—

आपका जन्म १६०५ में कौड़ियागंज अलीगढ़ में जैन परिवार में हुआ। आप हिन्दी के प्रतिष्ठित कहानी लेखक हैं। आपकी परख, सुनीता, त्यागपत्र आदि कृतियाँ अधिक प्रसिद्ध हैं। आपके सम्बन्ध में एक आलोचक का कथन है—"आधुनिक हिन्दी साहित्य में जैनेन्द्र जी ने अपनी अपूर्व शैली और उससे भी अधिक अपनी अपूर्व कथावस्तु से एक नवीन

ही आदर्श ला दिया है। उनकी कृतियों में प्रेमचन्द जी के से उन सरल भावों का विन्यास नहीं है, जिन के लिये सोचने समझने की आवश्यकता न हो। उनकी रचनाओं में वह विशेपता नहीं है जिसके कारण हम उनके पात्रों की ओर आपसे आप आकृष्ट हो जाते हैं। उनमें प्रसाद जी की अलौकिकता और उग्र जी की यथार्थता भी नहीं है! उनके पात्रों से न तो घटनाओं का कोई मेल रहता है और न उनके भावों से परि-स्थिति का ही कोई सम्बन्ध रहता है। उनकी कहानियों में न जाने कब कोई भी पात्र किसी भी परिस्थिति में कोई भी काम कर बैठे। तो भी, इसमें सन्देह नहीं कि अपनी कथाशैली की विलक्षणता से वे मुग्ध कर लेते हैं।" 'जाह्नवी' में ऐसी विल-क्षणता हमें दिखलाई देती है। उसकी 'कथा' ने एक नवीन ही आदर्श प्रस्तुत किया है। 'जाह्नवी' का आचरण असाधारण प्रतीत होने पर भी 'आदर्श' से ओत-प्रोत है। भाषा में सरलता है।

श्री वृन्दावन लाल वर्मा:--

आप झाँसी के रहने वाले हैं। हिन्दी के पुराने सेवक हैं। साहित्य सेवा के साथ-साथ वकालत भी करते हैं। ऐतिहासिक कथा साहित्य के एकमात्र स्रष्टा कहे जाते हैं। उनकी गढ़ कुण्डार, विराट की पद्मिनी, झाँसी की रानी, अचल मेरा कोई ''आदि कृतियाँ कीर्ति बढ़ाने वाली हैं। उनकी कहानियों में ग्राम्य वाता-

वरण का रम्य चित्रण रहता है। 'तोपी' में भारत-विभाजन-काल की समस्या का करुण चित्र है और हल भी। हिन्दू-समाज को उदार भावना धारण करने की वह प्रेरणा देती है।

पं० श्रीराम शर्मा:—

आप आगरा में रहते हैं। "विशाल भारत" का सम्पादन करते हैं। देशभक्ति के पुरस्कार स्वरूप कई वार जेल-यात्रायें कर चुके हैं। आप एक प्रतिभाशाली, ओजस्वी लेखक हैं। आपकी भाषा में प्रवाह रहता है। वड़ी स्वाभाविकता के साथ वह अपने अभीष्ट की ओर अग्रसर होती है। आपने हिन्दी को 'सुन्दर रेखाचित्र' भेंट किये हैं। वोलती प्रतिमा, प्राणों का सौदा आदि पुस्तकों के अतिरिक्त कई फुटकर कहानियाँ और रेखाचित्र पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं। इधर प्रतीकात्मक लघु कहानियाँ लिखने का भी आपने उपक्रम किया है, जिनकी ओर कला-मर्मज्ञों का ध्यान खिंच रहा है।

श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी:—

आपका जन्म १८६६ में कानपुर में हुआ। मिडिल तक शिक्षा प्राप्त करने पर भी आपकी प्रतिभा में कावयित्री गुण है। कहानियों में आप समाज-जीवन के सुन्दर चित्र प्रस्तुत करते हैं। आपमें भाषा को संवारने की विशेष सतर्कता पाई जाती है। इस समय वम्बई में फिल्म-जगत् में कार्य कर रहे हैं। उपन्यासों में दो वहिनें, पतिता की साधना तथा कहानियों में—खाली वोतल,

कलाकार की दृष्टि, पुष्करिणी आदि प्रसिद्ध हैं।

श्री० चतुरसेन शास्त्री:—

आपका जन्म १८८१ में शहादरा—दिल्ली में हुआ। आपमें मुगलकाल के ढलते प्रहरों का फड़कती हुई भाषा में वर्णन करने का स्पृहणीय गुण है। आप सन् १९१४ से हिन्दी में कहानियाँ लिखते हैं। भाषा उर्दू के "शीन-काफ" से दुरुस्त और चुस्त होती है, कथानक के वातावरण के अनुरूप सजीली होती है। 'पानवाली' वाजिदअलीशाह के चरित्र का यथार्थ चित्रण करती है। आपकी हृदय की प्यास, हृदय की परख; अमर अभिलाषा, अक्षत, रजकण आदि कथा-कृतियाँ हैं।

श्री० 'अज्ञेय':—

आपका वास्तविक नाम सच्चिदानंद हीरानन्द वात्स्यायन है पर आप 'अज्ञेय' के नाम से ही प्रसिद्ध हैं। कहानी, कविता और समीक्षात्मक निबंध लिखते रहते हैं। प्रयाग से प्रकाशित द्विमासिक 'प्रतीक' के सम्पादक-मण्डल में हैं। सन् १९३० में क्रांतिकारी आंदोलन में पकड़े भी जा चुके हैं। आपकी सन् २४ से ही लिखने की प्रवृत्ति हो गई थी। आप अब तक १०० के लगभग कहानियाँ लिख चुके हैं। विपथगा, परम्परा आदि आपकी कहानियों के संग्रह हैं। 'शेखर एक जीवनी' से आपने अधिक ख्याति प्राप्त की। कविताओं के भी कई संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार :—

सन् १९०६ में आपका जन्म पंजाब के कोटन्अद्द गाँव में हुआ। गुरुकुल काँगड़ी हरिद्वार में शिक्षा प्राप्त की। 'विशाल भारत' में आपकी पहली कहानी सन् १९२८ में छपी। चन्द्रकला, भय का राज्य, अमावस नामक तीन कहानी संग्रह छप चुके हैं। आप कहानी कला के अच्छे मर्मज्ञ हैं।

श्री भगवती चरण वर्मा :—

आपका जन्म सन् १९०३ में शफीपुर जिला उन्नाव में हुआ। प्रयाग-विश्वविद्यालय से बी० ए० एल-एल बी० की परीक्षा पास की। चौदह वर्ष की अवस्था से ही आपने गद्य पद्य लिखना प्रारंभ कर दिया। आपके कई कविता संग्रहों के अतिरिक्त कहानी-संग्रह और उपन्यास भी प्रकाशित हो चुके हैं। कहानी-संग्रहों में इन्स्टालमेंट, दो बाँके और उपन्यासों में 'चित्र-लेखा', 'तीन वर्ष' और 'टेढ़े मेढ़े रास्ते' प्रसिद्ध हैं। आप अच्छे विचारक भी हैं। वहुत समय तक आपने 'विचार' नामक पत्र भी प्रकाशित किया। वहुत समय तक वम्बई में रहकर चित्रपट-जगत में कार्य करते रहे हैं।

श्री जयशंकर 'प्रसाद' :—

आपका जन्म सन १८८६ और मृत्यु सन् १९३७ में हुई। आपका परिवार 'सुंघनी साहु' के नाम से प्रसिद्ध रहा है। आप

की स्कूली-शिक्षा आठवीं कक्षा तक ही हुई पर आपने अपने अध्यवसाय से संस्कृत, हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी का भी अच्छा ज्ञान सम्पादन कर लिया था। आपकी प्रतिभा बहुमुखी थी। आपने कहानी, कविता, नाटक, उपन्यास, निबन्ध आदि सभी कुछ लिखा है और सभी पर अपने व्यक्तित्व की छाप अंकित की है। आप हिंदी के पहिले प्रसिद्ध मौलिक ऐतिहासिक नाटककार हैं, छायावाद के प्रथम उन्नायक हैं, आदर्श भावना प्रधान कहानियाँ लिखकर आपने अपना एक स्वतंत्र, स्कूल (पंथ) ही चला दिया। अब तक आपके ८ कविता-संग्रह (जिन में आँसू, लहर, झरना, कामायनी मुख्य हैं।) ६ नाटक (जिनमें जनमेजय का नाग-यज्ञ, विशाख, अजातशत्रु, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त मुख्य हैं।) दो कंकाल और तितली नामक उपन्यास और पाँच कहानी-संग्रह (आँधी, इन्द्रजाल, आकाशदीप आदि) प्रकाशित हो चुके हैं। आपकी रचनाओं में कवित्व ओत-प्रोत रहता है।

श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' :—

आपका जन्म जालंधर (पंजाब) में सन् १९१० में हुआ। १९३१ में बी० ए० पास किया। स्कूल की अध्यापकी के अतिरिक्त आपने लाहौर में तथा अन्य स्थानों में कई पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकीय विभाग में कार्य किया। आपने पहले उर्दू में लिखना प्रारंभ किया और फिर हिन्दी के क्षेत्र में आये।

कहानियों के अतिरिक्त एकांकी और अन्य प्रकार के नाटक भी आपने लिखे हैं। कविताओं की ओर भी रुचि रही है। उपन्यासों की भी आपने रचना की है। इधर कुछ समय से क्षय से पीड़ित रहने के कारण विश्राम ले रहे हैं।

श्रीमती सत्यवती 'मलिक':—

आप काश्मीरी परिवार की सुसंकृत महिला हैं। आपने 'विशाल भारत' में कहानियाँ लिखना प्रारम्भ किया। आप दिल्ली में रहती हैं। आपकी कहानियों में नारी-जीवन का अच्छा चित्र रहता है। 'दो फूल' आपकी कहानियों का संग्रह है।

श्रीमती कमलादेवी चौधरी:—

आप सहारनपुर की रहने वाली संभ्रान्त परिवार की महिला हैं। आपने 'विशाल भारत' में कई सुन्दर कहानियाँ लिखी हैं। आपकी भाषा में माधुर्य की मात्रा प्रचुरता से पाई जाती है। कहानियों में मानसिक उथल-पुथल का चित्र अच्छा होता है।

श्री अनन्तगोपाल शेवड़े:—

जन्म सन् १६१२ में हुआ। मराठी भाषा-भाषी होते हुए भी हिन्दी में धारावाही गति से परिष्कृत गद्य लिखते हैं। उपन्यासों और कहानियों के अतिरिक्त आधुनिक शैली में चलते हुए विषयों पर निबन्ध लिखने की भी प्रवृत्ति पाई जाती

है। ईसाई वाला, और निशानी नामक दो उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं, जो कथा साहित्य में 'आदर्श' की प्रतिष्ठा करते हैं। नागपुर में 'नागपुर टाइम्स' के सहकारी सम्पादक हैं।

श्री पदुमलाल पन्नालाल बख्शी:—

आपका जन्म खैरागढ़ में हुआ। बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त कर 'सरस्वती' का वर्षों सम्पादन-कार्य किया। फिर खैरागढ़ लौटकर अध्यापन किया। आपने गद्य-पद्य की अनेक रचनाएँ की है। विश्व-साहित्य, पंचपात्र, कुछ आदि प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। कहानियाँ भी आपने अनेक लिखी हैं। हिन्दी के प्रसिद्ध समीक्षकों में आपकी गणना है। इस समय आपकी पचास वर्ष से अधिक वय हो गई है।

श्री विनयमोहन शर्मा:—

जन्म सन् १६०६। असली नाम शुकदेवप्रसाद तिवारी। गद्य-पद्य दोनों की रचना की। इस समय नागपुर विश्व विद्यालय के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष हैं।